उदाहरणार्थ—दशरथ-विश्वामित्र-वसिष्ठ-संवाद थोड़े ही उद्योगसे नाटकीय बनाया जा सकता है, जिसमें भविष्यसूचक *'इन्ह कहँ अति कल्यान'* वाली बात मौजूद है। फिर ताड़कावध और अहल्योद्धारमें उस आधिदैविक और नैतिक रहस्यका प्रकटीकरण है जो आगेके नाटकको जान है। हाँ! विश्वामित्राश्रममें ही मानो नाटकके दूसरे ऐक्टका संकेत है।—*'तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिय जाई॥ धनुष जग्य सुनि……।'*

जब इस बातका प्रमाण कि ये उस प्रेमके नाटकके अंश हैं सखियोंकी वार्ता *'सुने जे मुनिसँग आए काली।……'* इत्यादितकमें भी है। तब फिर जनक-स्वागत इत्यादिमें क्यों न हो। रामका यश श्रीरामजीसे पहले पहुँच गया था। हाँ, यह स्मरण रहे कि यहाँ कविने महाकाव्यकला ही प्रधान रखी है; इससे बहुधा ये अंश संक्षेपमें ही खेले जाते हैं।

नाटकीय कलामें यह अंश दृश्य प्रधान है। जैसे 'हैमलेट' और 'टेम्पेस्ट' नामक शैक्सपियरके नाटकोंके प्रारम्भमें। शैक्सपियर और तुलसीके समयमें वर्तमान नाटकोंके-से रंगमंच नहीं होते थे, इससे तुलसीदासजी नाटकका परदा भी शब्दोंमें ही तैयार करते हैं। फिल्म-कला निस्सन्देह इन दृश्योंको ठीक-ठीक दिखा सकती है।

अब हम नाटकीय कलाके विकासकी ओर बढ़ रहे हैं। इस प्रेमके नाटककी सूक्ष्मता समझानेके लिये फारसीका यह पद मुझे बहुत काम देता है—*'चुँ याबद बूय गुल ख्वाहद कि बीनद। चुँ बीनद रूय गुल ख्वाहद कि चीनद॥'* जब फूलकी सुगन्ध मिलती है तो जी चाहता है कि देखें; जब देखता है तो जी चाहता है कि चुन लें।

देखिये प्रेमके विकासकी श्रेणियाँ, 'प्रेमडगरिया'की मञ्जिलें—(१) फूल (प्रेमी व प्रेमिका) की सुगन्ध मिलना। (२) दर्शनकी अभिलाषा। (३) उद्योग। (४) साक्षात्कार। (५) संयोगकी इच्छा। (६) उद्योग और कठिनाइयोंसे प्रेमकी परख और (७) संयोग।—यही सुखान्तक नाटक यहाँसे विवाहतक है।

तुलसीदासजीकी नाटकीय कलामें कवि साथ है। वह हमारा मित्र, दार्शनिक शिक्षक और पथप्रदर्शक (Friend, philosopher and guide) है और इसीलिये व्यक्तियों, परिस्थितियों और वक्ताओंका आलोचक है। मगर बर्नार्ड शाकी तरह उसकी भूमिका, उपसंहार और आलोचना शुष्क और गद्यात्मक नहीं, बल्कि सरसता और काव्यकलासे ओत-प्रोत है।

☞ पाठकोंसे निवेदन है कि इन्हीं दृष्टिकोणोंसे कला-सम्बन्धी अंशका विचार करेंगे तो उन्हें बड़ा आनन्द मिलेगा। इसीसे पहले ही कुछ विस्तारसे निवेदन किया है।

चले राम लछिमन मुनि संगा। गए जहाँ जग पावनि गंगा॥ १॥
गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥ २॥

अर्थ—श्रीराम-लक्ष्मणजी मुनिके साथ चले। जहाँ जगत्‌को पवित्र करनेवाली गङ्गाजी हैं वहाँ गये॥ १॥ राजा गाधिके पुत्र विश्वामित्रजीने सब कथा सुनायी, जिस प्रकार देवनदी गङ्गाजी पृथ्वीपर आयीं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'चले राम लछिमन……'* इति। (क) *'चले'*—अहल्याको कृतार्थ करनेके लिये खड़े हो गये थे, अब पुनः चले। ☞जब-जब कहीं रुकना पड़ता है तब-तब वहाँसे चलते समय *'चले'* अर्थात् चलना कहते हैं। यथा—*'जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस……।'* (२०८) माताके पास विदा होने गये थे। वहाँ रुके, अतः वहाँसे चलना कहा। वहाँसे मुनिके पास आये, जब मुनिके साथ अयोध्याजीसे चले तब फिर कहा—*'पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।'* (२०८) पुनः, यथा—*'धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा।'* (२१०। १०) सिद्धाश्रममें आनेपर ठहरे थे यहाँ मुनिको निर्भयकर अब धनुषयज्ञ देखने चले। पुनः, यथा—*'हरषि चले मुनिबृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर नियराया॥'* (२१२। ४) गङ्गातटपर रुके थे, स्नानादि करनेपर फिर वहाँसे *'चले'*। तथा यहाँ अहल्योद्धार करनेको रुके थे, जब वह स्तुति कर पतिलोकको चली गयी तब फिर *'चले राम……'* कहा। (ख) *'चले राम लछिमन मुनि संगा'* इति। मुनिके संग श्रीराम-लक्ष्मणजी चले यह कहकर चलनेका क्रम दिखाया कि मुनि आगे-आगे हैं, उनके पीछे श्रीरामजी और श्रीरामजीके पीछे

श्रीलक्ष्मणजी हैं। [(ग) यहाँ यह शंका की जाती है कि 'जहाँ-जहाँ चलना कहा गया है, वहाँ-वहाँ हर्ष भी लिखा गया है, यथा—'*हरषि चले मुनि भय हरन।*' (२०५) '*हरषि चले मुनिबर के साथा*', '*हरषि चले मुनिबृंद सहाया*', पर यहाँ 'चलेके साथ '*हरषि*' शब्द नहीं है, यह क्यों?' और इसका समाधान यह किया जाता है कि अहल्या ब्राह्मणी और ऋषिपत्नी है। उसको चरणसे स्पर्श करना पड़ा। आपका मर्यादापुरुषोत्तम-अवतार है। क्षत्रिय होनेसे आपके मनमें इसकी बड़ी ग्लानि है। आप सोचते हैं कि हमसे बड़ा अपराध हुआ, इससे मनमें बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है। यथा—'*सिला पाप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। दई सुगति सो न हेरि हरषु हिय चरन छुएको पछिताउ।*' (विनय० १००) हृदयमें हर्ष नहीं है, इसीसे चलते समय '*हरषि चले*' नहीं लिखा गया। (प्र० सं०)]। (घ) '*गए जहाँ जगपावनि गंगा*' इति। उपर्युक्त शंका और समाधानके सम्बन्धसे एक भाव यह है कि अहल्याजीके सिरपर अपना चरण धरनेसे मनमें पश्चात्ताप हो रहा था कि हमसे बड़ा अपराध हुआ, वह सोच 'जगपावनी गङ्गाजी' को देखकर जाता रहा। '*जगपावनि*' का भाव कि हमारा सब पाप गङ्गाजीमें स्नान करनेसे नष्ट हो जायगा, क्योंकि ये जगपावनी हैं, हम पवित्र हो जायँगे—यह भाव माधुर्यमें है। दूसरा भाव यह है कि आप जगपावन हैं, यथा—'*तीरथ अमित कोटि सम पावन*', '*मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन*......', और गङ्गाजी भी जगपावनी हैं, इसीसे गङ्गाजीको देखकर बड़ा हर्ष हुआ, जैसा अयोध्याकाण्डमें कहा है—'*उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेषी॥*' (२। ८७) [पुनः, '*जगपावनि*' विशेषणका भाव कि श्रीरघुनाथजीने एक अहल्याको पावन किया और गङ्गा जगत्को पावन करनेवाली हैं (पां०)]।

नोट—१ '*गाधिसूनु सब कथा सुनाई*......' इति। वाल्मीकीयमें लिखा है कि श्रीरामजीने विश्वामित्रजीसे प्रश्न किया कि 'यह त्रिपथगा (तीन धारावाली गङ्गा) किस प्रकार तीनों लोकोंमें घूमकर समुद्रसे मिली।' (१। ३५। ११) उनके वचनसे प्रेरित हो मुनिने गङ्गाके जन्म और वृद्धिका वृत्तान्त कहा। जो संक्षेपसे यह है—सुमेरुकी कन्या हिमाचलकी स्त्री मेनाकी बड़ी कन्या गङ्गा हुई। देवकार्यकी सिद्धिके लिये देवताओंने इस कन्याको हिमवान्‌से माँग लिया और उन्हें लेकर देवलोकको चले गये। (वाल्मी० १। ३५। १३—१८)

यह कथा सुनकर फिर उन्होंने गङ्गाजीकी स्वर्गसे मृत्युलोकमें आनेकी कथा पूछी और यह भी पूछा कि गङ्गा तीन धाराओंसे क्यों बहती हैं और उनका नाम त्रिपथगा क्यों पड़ा?'—इन प्रश्नोंके उत्तरमें सर्ग ३६-३७ में कार्तिकेय-जन्मसम्बन्धी गङ्गाकी कथा कही। फिर सर्ग ३८ में राजा सगरकी कथा कही, जो संक्षेपसे इस प्रकार है—इक्ष्वाकुवंश (रघुकुल) में एक राजा सगर अयोध्यामें धर्मात्मा और पराक्रमशील राजा हुए। उनकी दो रानियाँ केशिनी और सुमति थीं। (महाभारत वनपर्वमें इनके नाम शैब्या और वैदर्भी हैं। (वाल्मी० १। ३८। ३) में केशिनीको विदर्भराजकी कन्या कहा है। इससे सम्भव है कि ये नाम पिताके सम्बन्धके हैं। सुमति गरुड़की बहिन थीं, ऐसा सर्ग ४१ श्लोक १६ में कहा है।) दोनों रानियों और राजाने हिमालय पर्वतपर जाकर भृगु ऋषिके सोनेवाले पर्वतपर सौ वर्ष तपस्या की। भृगुजीने प्रसन्न होकर वर दिया कि एक रानीके वंश बढ़ानेवाला एक ही पुत्र होगा और दूसरीके साठ हजार बली, कीर्तिमान् और उत्साही पुत्र होंगे। जो एक पुत्र उत्पन्न करना चाहे वह एक उत्पन्न करे और जो बहुत चाहे वह बहुत उत्पन्न करे। केशिनीने एक माँगा और सुमतिने साठ हजार।—(पद्मपुराण और महाभारतमें यहाँकी कथासे भेद है। पद्मपुराणमें और्व ऋषिका और महाभारतमें शंकरजीका वरदान देना कहा है*। श्रीमद्भागवत और महाभारत वनपर्वकी कथाएँ मिलती-जुलती हैं)। केशिनीके असमंजस

* पद्मपु० उत्तरखण्डमें महादेवजीने नारदजीसे कहा है कि 'सुबाहुके पुत्र 'गर' हुए। शत्रुओंने इनका राज्य छीन लिया तब ये परिवारसहित भृगुनन्दन और्वके आश्रमपर चले गये। और्वने उनकी रक्षा की। सगर वहीं पैदा हुए और बढ़े। और्वने अस्त्र-शस्त्र तथा वेद-विद्याका भी अभ्यास करा दिया। सगरके दो रानियाँ थीं। वे दोनों ही तपस्याके द्वारा अपने पाप दग्ध कर चुकी थीं। इससे प्रसन्न होकर और्वने उन्हें वरदान दिया। एकने साठ हजार पुत्र माँगे और दूसरीने एक ही ऐसे पुत्रके लिये प्रार्थना की जो वंश चलानेवाला हो।' ('कल्याण'से)।

महाभारत वनपर्वमें लिखा है कि दोनों (राजा और रानियों) ने कैलासपर जाकर कठिन तप किया। शंकरजी प्रकट हुए

नामक एक दिव्य बालक उत्पन्न हुआ और सुमतिके गर्भसे एक तुम्बी उत्पन्न हुई। [राजाने तुम्बीको फेंकनेका विचार किया, उसी समय गंभीर स्वरसे आकाशवाणी हुई कि ऐसा साहस न करो। इस तरह पुत्रोंका परित्याग करना उचित नहीं है। इस तुम्बीके बीज निकालकर उन्हें कुछ-कुछ घीसे भरे हुए घड़ोंमें पृथक्-पृथक् रख दो। इससे तुम्हें साठ हजार पुत्र होंगे।' (महाभारत वनपर्व)]। घीसे भरे घड़ोंमें रखकर, धात्रियोंने उनका पालन किया। उस तुम्बीसे इस प्रकार साठ हजार अतुलित तेजस्वी, घोर प्रकृतिके और क्रूर कर्म करनेवाले एवं आकाशमें उड़कर चलनेवाले पुत्र उत्पन्न हुए। दूसरी रानीका पुत्र असमंजस अपने पुरवासियोंके दुर्बल बालकोंका गला पकड़कर सरयूमें डाल देता था और जब वे डूबने लगते तब हँसता था। सब पुरवासी भय और शोकसे व्याकुल रहने लगे। एक दिन राजासे सबने आकर प्रार्थना की कि असमंजससे हमारी रक्षा कीजिये। महात्मा सगरने पुरवासियोंके हितार्थ अपने पुत्रको नगरसे निकाल दिया। राजा हो तो ऐसा हो! प्रजाकी प्राणोंसे रक्षा करना राजाका धर्म था न कि प्रजाहीका सत्यानाश करना!! असमंजसके एक पराक्रमी पुत्र अंशुमान् थे जो सबको प्रिय थे।

बहुत काल बीतनेपर राजा सगरने हिमालय और विन्ध्याचलके बीचमें एक अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ली। घोड़ा छोड़ा गया। (वह घूमता-घूमता जलहीन समुद्रके पास पहुँचा तब वह अदृश्य हो गया।) इन्द्रने राक्षसका वेष धरकर उसे चुराकर भगवान् कपिलदेवके आश्रममें बाँध दिया। सगरके साठ हजार राजकुमारोंने समुद्र, द्वीप, वन, पर्वत, नदी, नद और कन्दराएँ सभी स्थान छान डाले परंतु पता न लगा। तब लौटकर उन्होंने सब समाचार राजासे कह दिया। राजाने क्रोधमें आकर आज्ञा दी कि उसे जाकर खोजो, खाली हाथ लौटकर न आना। ये लोग फिर खोजने लगे। एक जगह पृथ्वी कुछ फटी देख पड़ी जिसमें एक छिद्र भी था, उन्होंने उसे पातालतक खोद डाला। वहाँ घोड़ेको उन्होंने घूमते और चरते हुए देखा। उसके पास महात्मा कपिलदेव भी दीख पड़े। मुनि ध्यानमें थे। कालवश ये राजकुमार क्रोधसे भर गये और कहने लगे कि देखो, 'कैसा चोर है? घोड़ा चुराकर यहाँ मुनिवेष बनाकर बैठा है।' 'अरे मूर्ख! तूने हमारे यज्ञका घोड़ा चुराया है। हमलोग सगरके पुत्र तुझे दण्ड देनेको आ गये, यह तू जान ले।' इस कोलाहलसे मुनिकी आँखें खुल गयीं और उन्होंने बड़े क्रोधसे हुंकार किया, जिससे सब राजकुमार उनके तेजसे भस्म हो गये (वाल्मी० १ सर्ग ३९, ४०)। महाभारत वनपर्वमें लिखा है कि नारदने सब समाचार राजासे कहा। देखिये महात्माके अपमानका फल! अब एकमात्र अंशुमान् ही राज्यमें थे। राजाने उनको बुलाकर और समझाकर भाइयों और यज्ञके घोड़ेको ढूँढ़नेको भेजा। ये अपने चाचाओंकी खोदी हुई पृथ्वीके रास्तेपर पहुँचे। सब दिग्गजोंको प्रणाम किया और उनसे आशीर्वाद पाकर उस स्थानपर पहुँचे जहाँ सगरके पुत्रोंकी भस्म पड़ी हुई थी। उन्होंने सबको जलाञ्जलि देनी चाही, पर कहीं जल न मिला। तब गरुड़ने आकर अंशुमान्से कहा कि ये कपिलजीके क्रोधसे भस्म हुए हैं, साधारण जलसे इनको लाभ नहीं होनेका। इनको गङ्गाजलसे जलाञ्जलि देना। घोड़ा लेकर जाओ! (वाल्मी० १। ४१। १६—२१) परंतु वनपर्वमें लोमशजीने युधिष्ठिरजीसे कहा है कि अंशुमान् कपिलदेवजीके आश्रमपर गये और उनकी स्तुति की। उन्होंने वर माँगनेको कहा। उन्होंने यज्ञ-अश्व माँगा और अपने पितरोंके उद्धारकी प्रार्थना की। उन्होंने प्रसन्नतासे घोड़ा दिया और वर दिया कि तुम्हारा पौत्र भगीरथ गङ्गाजीको लाकर इन सबका उद्धार करेगा। घोड़ा लाकर अंशुमान्ने राजाको दिया और यज्ञ पूरा किया गया। सगरके पश्चात् अंशुमान् राजा हुए। उन्होंने अन्तमें अपने धर्मात्मा पुत्र दिलीपको राज्य सौंपकर गङ्गाजीके लिये तप किया। दिलीपने भी गङ्गाजीके लिये बहुत प्रयत्न किया। उनके पुत्र भगीरथजी अपने पितरोंका वृत्तान्त सुनकर बहुत दुःखी हुए और मन्त्रियोंको राज्य सौंपकर वे हिमालयपर तपस्या करने लगे। इन्होंने राज्याभिषेक होते हुए राज्य छोड़ दिया और एक हजार वर्षतक घोर तपस्या की। तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजी देवताओं-सहित वहाँ आये और वर माँगनेको कहा। उन्होंने गङ्गाजीके लिये और

और दोनोंने प्रणामकर उनसे पुत्रके लिये प्रार्थना की। शंकरजीने कहा कि 'जिस मुहूर्तमें तुमने वर माँगा है, उसके प्रभावसे एक रानीसे अत्यन्त गर्वीले और शूरवीर साठ हजार पुत्र होंगे किंतु वे सब एक साथ ही नष्ट हो जायँगे। दूसरी रानीसे वंशको चलानेवाला केवल एक ही पुत्र होगा।'—ऐसा कहकर शंकरजी अन्तर्धान हो गये।

एक पुत्रके लिये प्रार्थना की। उन्होंने मनोरथ पूर्ण होनेका वर दिया, पर साथ ही यह भी कहा कि गङ्गाजीके वेगको पृथ्वी न सह सकेगी। उसको धारण करनेकी शक्ति शिवजीको छोड़ किसीमें नहीं है, अतः तुम उनको प्रसन्न करो। यह कहकर और गङ्गाजीको भगीरथजीका मनोरथ पूर्ण करनेकी आज्ञा देकर ब्रह्माजी स्वर्गको गये (वाल्मी० १। ४२। १४—२५)। [वनपर्वमें लोमशजीने कहा है कि गङ्गाजीने ही तपस्यासे प्रसन्न होकर दिव्यरूपसे भगीरथ महाराजको दर्शन दिया और कहा कि जो कहो मैं वही करूँ।* भगीरथजीने कहा कि 'मेरे पितृगण महाराज सगरके साठ हजार पुत्रोंको कपिलदेवजीने भस्म कर यमलोकको भेज दिया। जबतक आप अपने जलसे उनका अभिषेक न करेंगी, तबतक उनकी सद्गति नहीं हो सकती। उनके उद्धारके लिये ही आपसे प्रार्थना है।' गङ्गाजीने कहा कि मैं तुम्हारा कथन पूरा करूँगी। परंतु जिस समय मैं आकाशसे पृथ्वीपर गिरूँगी उस समय मेरे वेगको रोकनेवाला कोई न होनेसे मैं रसातलको चली जाऊँगी। तुम उसका उपाय करो' (भा० ९। ९। ३—५) 'तीनों लोकोंमें भगवान् शंकरको छोड़ कोई ऐसा नहीं जो मुझे धारण कर सके। अतएव तुम उनको प्रसन्न कर लो, जिसमें मैं गिरूँ तो वे मुझे मस्तकपर धारण कर लें।' (महाभारत)] भगीरथजीने तब पुनः तीव्र तपस्या की और महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे गङ्गाजीको धारण करनेका वर प्राप्त कर लिया। शंकरजी हिमालयपर आकर खड़े हो गये। भगीरथजी गङ्गाजीका ध्यान करने लगे। इन्हें देखकर गङ्गाजी स्वर्गसे धाराप्रवाहरूपसे चलीं और शिवजीके मस्तकपर इस प्रकार आकर गिरीं मानो कोई स्वच्छ मोतियोंकी माला हो। शंकर दस हजार वर्षोंतक उन्हें अपनी जटाओंमें धरे रह गये। भगीरथजीने पुनः तपस्या करके शंकरजीको प्रसन्न किया। तब उन्होंने गङ्गाजीको जटाओंसे छोड़ा।† गङ्गाजीने राजासे कहा कि मैं तुम्हारे लिये ही पृथ्वीपर आयी हूँ, अतः बताओ मैं किस मार्गसे चलूँ?' यह सुनकर आगे-आगे राजा रथपर और पीछे-पीछे गङ्गाजी, इस तरह कपिलजीके आश्रमपर, जहाँ सगरपुत्रोंकी राख पड़ी थी, वे गङ्गाजीको ले गये। जलके स्पर्शसे उनका उद्धार हो गया। गङ्गाजी सहस्रधारा होकर कपिलजीके आश्रमपर गयीं। समुद्र उनके जलसे तत्काल भर गया। राजा भगीरथने उनको पुत्री मान लिया और पितरोंको गङ्गाजलसे उन्होंने जलाञ्जलि दी। उस जलके स्पर्शसे सगरपुत्रोंका उद्धार हुआ।

☞ यह नदी गङ्गोत्तरीसे निकलती है और मन्दाकिनी तथा अलकनन्दासे मिलकर हरिद्वारके पास पथरीले मैदानमें उतरती है।

दूसरी कथा श्रीमद्भागवत ५। १७ में है। उसमें श्रीशुकदेवजीने गङ्गाजीका विवरण इस प्रकार दिया है कि जब भगवान्‌ने त्रिलोकको नापनेके लिये अपना पैर फैलाया तो उनके बाएँ पैरके अँगूठेके नखसे ब्रह्माण्डकटाहके ऊपरका भाग फट गया। उस छिद्रमें होकर जो ब्रह्माण्डसे बाहरके जलकी धारा आयी, वह उस चरणकमलको धोनेसे उसमें लगे हुए केसरके मिलनेसे लाल हो गयी। उस निर्मल धाराका स्पर्श होते ही संसारके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, किंतु वह सर्वथा निर्मल ही रहती है। पहले किसी और नामसे न पुकारकर उसे 'भगवत्पदी' ही कहते थे। वह धारा हजारों युग बीतनेपर स्वर्गके शिरोभागमें स्थित हुई, फिर ध्रुवलोकमें उतरी, जिसे 'विष्णुपद' भी कहते हैं। ध्रुवलोकमें आज भी ध्रुवजी नित्यप्रति बढ़ते हुए भक्तिभावसे 'यह हमारे कुलदेवताका चरणोदक है' ऐसा मानकर उसे बड़े आदरसे सिरपर चढ़ाते हैं। और फिर सप्तर्षिगण 'यही

---

* पद्मपु० उत्तरखण्डमें कहा है कि दस हजार वर्ष तपस्या करनेपर विष्णुभगवान् प्रसन्न हुए। उनके आदेशसे गङ्गाजी आकाशसे चलीं।

† शिवजीने विन्दुसरमें गङ्गाको छोड़ा। वहाँसे उनकी सात धाराएँ हुईं। ह्लादिनी, पावनी और नलिनी पूर्व दिशाकी ओर गयीं। सुचक्षु, सीता और सिन्धु ये तीन पश्चिमको गयीं और सातवीं धारा भगीरथके पीछे-पीछे गयी। (वाल्मी० १। ४३। ११—१४) जह्नु ऋषि यज्ञ कर रहे थे। उनकी यज्ञसामग्री गङ्गाजीने बहा दी, इससे क्रोधमें आकर वे गङ्गाजीका सब जल पी गये। देवताओंने उनको प्रसन्न किया और कहा कि गङ्गा आपकी कन्याके नामसे प्रसिद्ध होगी। तब मुनिने उन्हें कानके मार्गसे निकाल दिया और भगीरथजीके पीछे-पीछे वे फिर चलीं (वाल्मी० १। ४३। ३४—३९)। भगीरथके मनोरथके लिये वे रसातलमें गयीं। तीन धाराओंमें बहनेसे उनका त्रिपथगा नाम हुआ (वाल्मी० १। ४। ४६।)।

तपस्याकी आत्यन्तिक सिद्धि है' ऐसा मानकर उसे जटाजूटपर धारण करते हैं। वहाँसे गङ्गाजी आकाशमें होकर चन्द्रमण्डलको आप्लावित करती हुई मेरुशिखरपर ब्रह्मपुरीमें गिरती हैं। वहाँसे सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नामसे चार धाराओंमें विभक्त हो जाती हैं। उनमें सीता ब्रह्मपुरीसे गिरकर केसराचलोंके सर्वोच्च शिखरोंमें होकर नीचेकी ओर बहती गन्धमादनके शिखरोंपर गिरती है और भद्राश्ववर्षको प्लावित कर पूर्वकी ओर खारे समुद्रमें मिल जाती है। इसी प्रकार 'चक्षु' माल्यवान्के शिखरपर पहुँचकर वहाँसे केतुमाल वर्षमें बहती पश्चिमकी ओर क्षीरसमुद्रमें जा मिलती है। 'भद्रा' मेरुपर्वतके शिखरसे उत्तरकी ओर गिरती है तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर जाती हुई अन्तमें शृङ्गवान्के शिखरसे गिरकर उत्तर कुरुदेशमें होकर उत्तरकी ओर बहती हुई समुद्रमें मिल जाती है। 'अलकनन्दा' ब्रह्मपुरीसे दक्षिणकी ओर गिरकर अनेकों गिरिशिखरोंको लाँघती हुई हेमकूट पर्वतपर पहुँचती है। वहाँसे अत्यन्त तीव्र वेगसे हिमालयके शिखरोंको चीरती हुई भारतवर्षमें आती है और फिर दक्षिणकी ओर समुद्रमें जा मिलती है। इसमें स्नान करनेके लिये आनेवालोंको पद-पदपर अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञोंका फल भी दुर्लभ नहीं (श्लोक २ से १० तक)।

तीसरी कथा पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भगवान् व्यासने ब्राह्मणोंके पूछनेपर कि 'गङ्गाजी कैसे इस रूपमें प्रकट हुईं? उनका स्वरूप क्या है? वे क्यों अत्यन्त पावनी मानी जाती हैं?' उनसे गङ्गाजीकी कथा विस्तारसे कही है, जिसका संक्षिप्त विवरण यह है। ब्रह्माजीने नारदजीके पूछनेपर कहा था कि पूर्वकालमें सृष्टिका आरम्भ करते समय मैंने मूर्तिमती प्रकृतिसे कहा कि 'देवि! तुम सम्पूर्ण लोकोंका आदिकारण बनो। मैं तुमसे ही संसारकी सृष्टि करूँगा।' यह सुनकर परा-प्रकृति सात स्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुई। वे सात स्वरूप ये हैं। (१) गायत्री (जिससे समस्त वेद, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा और दीक्षाकी उत्पत्ति मानी जाती है)। (२) वाग्देवी भारती वा सरस्वती (जो सबके मुख और हृदयमें स्थित है और समस्त शास्त्रोंमें धर्मका उपदेश करती है)। (३) लक्ष्मी (जिससे वस्त्र और आभूषणकी राशि प्रकट हुई। सुख और त्रिभुवनका राज्य इन्हींकी देन है। ये विष्णुभगवान्की प्रियतमा हैं)। (४) उमा (जिनके द्वारा शङ्करजीके स्वरूपका ज्ञान होता है। यह ज्ञानकी जननी और शंकरजीकी अर्धाङ्गिनी हैं)। (५) शक्तिबीजा (जो अत्यन्त उग्र, संसारको मोहमें डालनेवाली, जगत्का पालन और संहार करनेवाली है)। (६) तपस्विनी (जो तपस्याकी अधिष्ठात्री है)। (७) धर्मद्रवा (जो सब धर्मोंमें प्रतिष्ठित है)। धर्मद्रवाको सर्वश्रेष्ठ जानकर मैंने कमण्डलुमें रख लिया। जब वामनावतार लेकर बलिके यज्ञमें भगवान्ने चरण बढ़ाया तब एक चरण आकाश और ब्रह्माण्डको भेदकर मेरे सामने उपस्थित हुआ। मैंने कमण्डलुके जलसे उस चरणका पूजन किया। उस चरणको धोकर जब उसका पूजन कर चुका, तब उसका धोवन हेमकूट पर्वतपर गिरा। वहाँसे शंकरजीके पास पहुँचकर वह जल गङ्गाके रूपमें उनकी जटाओंमें स्थित हुआ। वे बहुत काल जटाओंमें भ्रमती रहीं। वहाँसे भगीरथजी उन्हें पृथ्वीपर लाये।

☞ इस प्रकार एक कथाके अनुसार यह जल ब्रह्माण्डकटाहके बाहरका जल है जो भगवान्के चरणनखकी ठोकर लगनेसे वहाँसे इस ब्रह्माण्डके भीतर भगवान्के चरणको धोता हुआ बह निकला। दूसरी कथाके अनुसार परा-प्रकृति ही जो धर्मद्रवा नामसे जलरूपमें ब्रह्माके कमण्डलुमें थीं, उसीसे भगवान्का चरण जब धोया गया तो वह धोवन ही गङ्गा नामसे विख्यात हुआ। भगवान्के चरणका धोवन होनेसे 'विष्णुपदसरोजजा' और 'विष्णुपदकञ्जमकरन्द' आदि नाम हुए।

चौथी कथा भा० ४। १। १२—१४ में यह लिखी है कि महर्षि मरीचिजीके कर्दमजीकी पुत्री कलासे दो पुत्र कश्यप और पूर्णिमा हुए। पूर्णिमाकी कन्या देवकुल्या हुई। यही कन्या दूसरे जन्ममें श्रीहरिचरणकी धोवनसे गङ्गारूपमें प्रकट हुई।

टिप्पणी—२ '*गाधि सूनु सब कथा सुनाई*……' इति। (क) '*सब*' कहकर जनाया कि श्रीरामजीकी भक्ति देख विस्तारसे गङ्गाजीकी सब कथा कही। कौन कथा सुनायी, यह अगले चरणमें बताते हैं—'*जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।*' (ख) विश्वामित्रजी 'भक्तिहेतु' श्रीरामजीको कथा सुनाया करते थे। यथा—'*भगति*

हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥' (२१०। ८) वैसे ही यहाँ भी बिना श्रीरामजीके पूछे सुरसरिकी कथा कहने लगे। गीतावलीमें पूछनेपर मुनिने सुरसरिकी कथा कही है, यथा—'*बूझत प्रभु सुरसरि प्रसंग कहि निज कुल कथा सुनाई। गाधिसुवन सनेह-सुख-संपति उर आश्रम न समाई।*' (गी० १। ५५) इस भेदका समाधान '*कल्प भेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥*' (३३। ७) है। किसी कल्पमें पूछनेसे कही और किसीमें बिना पूछे कही। (गीतावलीकी कथा प्रायः वाल्मीकीयसे मिलती है। मानस और गीतावलीके कथा-प्रसङ्गोंमें जहाँ-तहाँ बहुत भेद है। वाल्मीकीयमें बीचमें शोणनदके तटपर एक रात निवास हुआ है। वहाँ श्रीरामजीने उस देशका वृत्तान्त पूछा। वह देश कौशिकजीके पूर्वज कुशके पुत्र राजा वसुकी राजधानी थी। इस सम्बन्धसे विश्वामित्रजीने अपने वंशकी कथा सुनायी थी। सर्ग ३१ में प्रश्न है और सर्ग ३२, ३३, ३४ में कथा है। आगे जब गङ्गातटपर पहुँचे तब सुरसरि-प्रसङ्ग पूछा है। मानसमें गङ्गातटपर रुके हैं। गीतावलीमें 'सुरसरिप्रसंग' और '*निज कुल कथा*' दोनोंका सुनाना वाल्मीकीयके अनुसार है)। (ग) '*सब*' कथा विस्तारसे सुनाना कहा, '*सब*' से विस्तार सूचित कर दिया, पर अपने ग्रन्थमें उसका विस्तार न किया; यह ग्रन्थकारकी बुद्धिमानी है। (घ) '*जेहि प्रकार सुरसरि महि आई*' इति। '*सुरसरि*' और '*महि आई*' शब्दोंसे जनाया कि ये देवनदी हैं, स्वर्गसे पृथ्वीपर आयी हैं। स्वर्गसे यहाँ क्यों और किस प्रकार आयीं, यह सब कथा कही। (ङ) पूर्व गङ्गाजीको '*जगपावनि*' कहा'*गए जहाँ जगपावनि गंगा।*' अब यहाँ बताते हैं कि वे जगपावनी कैसे हैं—सुरसरि पृथ्वीपर आयीं, इसीसे जगत् पवित्र हुआ। स्वर्गमें रहनेसे केवल देवलोकपावनी थीं। (च) कथा सुनायी और गङ्गाजीकी महिमाका वर्णन किया; क्योंकि गाधिराजा बड़े प्रतिष्ठित थे, ये उनके पुत्र हैं। गाध धातुका अर्थ प्रतिष्ठा है—'**गाधि प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च।**' [प्र० सं० में हमने लिखा था कि श्रीरामजीके पूछनेपर कथा कही। गीतावलीके अनुसार '*गाधिसूनु*' से यह भाव ले सकते हैं कि '*निज कुल कथा*' भी सुनायी है, इसीसे '*गाधिसूनु*' नाम दिया। परंतु '*जेहि प्रकार*' से उसका निषेध होता है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'गाधिसूनु' नाम देकर जनाया कि बहुत कालीन हैं, गङ्गाजी इनके सामने आयी हैं। (रा० प्र०)]

तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए। बिबिध दान महिदेवन्हि पाए॥ ३॥
हरषि चले मुनिबृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर निअराया॥ ४॥

शब्दार्थ—**सहाया**=सहायक। **निअराना**=निकट पहुँचाना; निकट आना या जाना=पास होना।

अर्थ—तब प्रभुने ऋषियोंसमेत स्नान किया। ब्राह्मणोंने अनेक प्रकारके दान पाये॥ ३॥ मुनिवृन्दके सहित श्रीरामजी हर्षपूर्वक चले। शीघ्र ही विदेह राजाका नगर निकट आ गया। (अर्थात् जनकपुरके निकट पहुँच गये)॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*तब प्रभु रिषिन्ह*……' इति। (क) '*तब*' अर्थात् गुरुमुखसे गङ्गाजीकी महिमा सुनकर (तब स्नान किया)। माहात्म्य सुनकर स्नान करनेमें भाव यह है कि महिमा सुननेसे तीर्थमें श्रद्धा होती है और स्नानकी विधि बनती है।—[श्रद्धासे मनोरथ सफल होता है। कथा सुननेसे विधि मालूम होती है (प्र० सं०)। पुनः, '*तब*' का भाव कि मुनिसे कथाद्वारा जानकर कि गङ्गाजी हमारे पूर्वजोंके उद्धारहेतु स्वर्गसे पृथ्वीपर आयी हैं, '*प्रभु*' होते हुए भी उन्होंने गङ्गामें स्नानकर अपनेको पवित्र माना। (प्र० सं०)] (ख) ☞ श्रीरामजी तो सब जानते हैं, वे अपने आचरणद्वारा जगत्के समस्त प्राणियोंको उपदेश देते हैं कि तीर्थमें जाय तो तीर्थकी महिमा सुनकर तब विधिपूर्वक उसमें स्नान करे। यथा—'**मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः॥**' (भा० ५। १९। ५) अर्थात् 'आपका यह मनुष्यावतार केवल राक्षसोंका वध करनेके लिये ही नहीं हुआ, किंतु मनुष्योंको शिक्षा देनेके लिये हुआ है।' अयोध्याकाण्डमें आपका, गङ्गाजीकी महिमा कहकर तब श्रीसीता-अनुजसमेत स्नान करना लिखा है, यथा—'*सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुधनदी महिमा अधिकाई॥ मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गयऊ।*' (२। ८७) इससे स्पष्ट है कि गङ्गाजीमें आपकी बड़ी भक्ति है। इसीसे आप गङ्गाजीका माहात्म्य कहते भी हैं और सुनते भी हैं। (ग) '*रिषिन्ह*

समेत नहाए', इति। ऋषियोंसहित स्नानसे जनाया कि श्रीरामजीकी ऋषियोंमें अत्यन्त भक्ति है, इसीसे वे सब काम ऋषियोंसमेत करते हैं। यथा—***'तब प्रभु ऋषिन्ह समेत नहाए', 'हरषि चले मुनिबृन्द सहाया', 'भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनिबृंद समेता॥'*** (२१४। ७) ***'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजनु बिश्रामु।'*** (२१७) ***'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला॥'*** (२४०। ४) इत्यादि। अयोध्याकाण्डमें आपने मातासे कहा है कि ***'मुनिगन मिलनु बिसेष बन सबहिं भाँति हित मोर।'*** (२। ४१) पुनः, यथा—***तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्ह बिप्रन्ह पर दाया॥'***—ये सब उदाहरण श्रीरामजीकी भक्तिके प्रमाण हैं। (घ) गङ्गाको उतरकर उस पार स्नान करना अन्य प्रमाणोंके अनुसार यहाँ भी समझना चाहिये। यथा—***'तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥'*** (२। १०३) ***'करि मज्जन सरयू जल गए भूप दरबार।'*** (२०६) यहाँ गङ्गा उतरने, पार करनेका प्रसंग कुछ नहीं लिखते, क्योंकि अयोध्याकाण्डमें इसे विस्तारसे लिखना है।

टिप्पणी—२ ***'बिबिध दान महिदेवन्हि पाए'*** इति। (क) बहुत प्रकारका दान अर्थात् अन्न, वस्त्र, सुवर्ण, मणि, गऊ, हाथी, घोड़े, पालकी, आभूषण इत्यादि। (ख) ***'महिदेवन्हि पाए'***— यहाँ ब्राह्मणोंका दान पाना लिखते हैं, दानका देना नहीं लिखते। कारण यह है कि यहाँ श्रीरामजीके पास कुछ भी द्रव्य नहीं है और वैरागियोंका साथ है, इसलिये यहाँ उन्होंने संकल्पमात्र कर दिया (और कह दिया कि श्रीअयोध्याजीमें आकर ले लेना)। बड़े-बड़े राजाओं और रईसोंमें अब भी यह रीति प्रचलित है, अतः यहाँ साक्षात् पदार्थोंका देना न लिखा, केवल पाना लिखा। जहाँ साक्षात् पदार्थ दानमें दिया जाता है, वहाँ देना लिखते हैं। जैसे लङ्कासे लौटनेपर प्रयागमें दान देना लिखा है। यथा—***'पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी हरषित मज्जनु कीन्ह। कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहुँ दान बिबिध बिधि दीन्ह॥'*** (६। ११९) क्योंकि यहाँ पुष्पक-विमानपर दानके सब पदार्थ साथ हैं। इसी प्रकार श्रीभरतजीका त्रिवेणी-स्नान-समय दान देना लिखा है, यथा—***'सबिधि सितासित नीर नहाने। दिए दान महिसुर सनमाने॥'*** (२। २०४) क्योंकि भरतजीके साथ सब सामग्री मौजूद थी। जैसे यहाँ ऋषियोंके साथमें श्रीरामजीके पास कुछ न था, वैसे ही वनयात्रामें ***'तापस बेष बिसेषि उदासी'*** होनेसे उस समय भी श्रीरामजी खाली हाथ थे, इसीसे उस समय प्रयागमें स्नान करनेपर दानका देना नहीं लिखा गया; यथा—***'मुदित नहाइ कीन्ह सिव सेवा।'*** [और न शृङ्गवेरपुरसे चलकर पार उतरनेपर दानका उल्लेख हुआ, यथा—***'तब मज्जन करि रघुकुल नाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥'*** (२। १०३) ☞यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'वनयात्रामें दान देना लिखा सो ठीक है, पर जैसे यहाँ ***'बिबिध दान महिदेवन्ह पाए'*** अर्थात् विप्रोंका दान ***'पाना'*** लिखा है, वैसे ही वहाँ ***'पाना'*** भी तो नहीं लिखा है? इसका समाधान यह है कि इस समय श्रीरामजी श्रीविश्वामित्रजीके साथ राजकुमारकी हैसियतसे हैं, पिताने उनको मुनिके साथ भेजा है। अतः इस समय राजकुमारोंको संकल्प करनेका अधिकार है। और वनयात्रामें उनको अयोध्याके कोषपर कोई अधिकार न था; क्योंकि वह राज्य तो कैकेयीके वरदानके अनुसार भरतजीका हो चुका था। दूसरे] उस समय अयोध्यामें उपद्रव था, ये तो आप ही वहाँसे निकाल दिये गये थे (तब सङ्कल्प कैसे करते? अतः न देना ही लिखा गया और न पाना ही)। (रा० प्र० कारका मत है कि विश्वामित्र तो सिद्ध मुनि हैं, ऋद्धि-सिद्धि उनकी दासी हैं। उन्होंने अपने तपोबलके सम्बन्धसे हाथी, द्रव्य आदि सभी वहाँ उपस्थित कर दिये, इसीसे ***'महिदेवन्हि पाए'*** लिखा गया। अथवा, घोड़ा, हाथी आदिका मूल्य श्रीरामजीने अपने बहुमूल्य आभूषणद्वारा दे दिया। अथवा, मारीच-सुबाहु आदिका संहार करनेपर बहुत-सा लूटका माल मिला था, उसीसे यहाँ दान दिया गया।) (ग) ***'रिषिन्ह समेत नहाए'*** कहकर सूचित करते हैं कि विविध दान भी ऋषियोंके समेत किया। प्रभुने दान दिया और ऋषियोंसे भी दान कराया। यथा— ***'कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहँ दान बिबिध बिधि दीन्ह।'*** (६। ११९) (जब पशुओंके साथ स्नान करनेपर उनसे दान कराया तब भला ऋषियोंसहित नहानेपर, ऋषियोंसहित दान देनेमें सन्देह ही क्या हो सकता है?)। [**'पात्रे दानम्'**। दान पात्रको देना चाहिये, अतः पृथ्वीके देवताओं 'ब्राह्मणों' को दान दिया। ब्राह्मणब्रुव (जो केवल ब्राह्मण

कहलानेवाले हैं) का ग्रहण न हो इसलिये महिदेव कहा। दानसामग्रीके विषयमें शङ्का न हो। इसलिये *'प्रभु'* कहा। उन्हें सब सामर्थ्य है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ *'हरषि चले मुनिबृंद सहाया'*……।' इति। (क) हर्ष होना स्नानका गुण है। स्नान किया, इससे मन प्रसन्न हुआ और यात्रामें हर्षका होना शकुन है। यात्रामें शकुन बारम्बार हर्षद्वारा जनाया है, यथा—*'धनुषजग्य सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा॥'* (२१०। १०) *'पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भयहरन॥'* (२०८) तथा यहाँ। [पुन: हर्ष इससे कि जनकपुर पहुँचकर श्रीराजकिशोरीजी और उनकी परिकरियोंको जो परम-शोभा सम्पन्न हैं देखेंगे। (रा० प्र०)] (ख) *'मुनिबृंद सहाया'* कहकर जनाया कि मुनिवृन्दको साथमें लेकर चले। यथा—*'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला॥'* (२४०। ४) (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'सहाय' शब्द सेनाके अर्थमें बराबर प्रयुक्त होता है। यथा—*'लै सहाय धावा मुनिद्रोही'* *'निदरे राम जानि असहाई'* *'मुनिबृंद सहाया'* का अर्थ है कि ये दोनों भाई मुनिवृन्दकी सेना हैं। जैसे राजाओंकी जीत सैन्यबलसे होती है वैसे ही मुनिवृन्दकी जीत इन्हीं दोनों भाइयोंद्वारा होती है, अत: *'मुनिबृंद सहाया'* कहा)। (ग) *'बेगि'* से सूचित होता है कि गङ्गाजीसे जनकपुर निकट ही है। (पुन: *'बेगि'* का सम्बन्ध पूर्वार्द्धसे भी है। चलनेमें भी शीघ्रता है, क्योंकि राजा जनकके दूतोंने कहा था कि शीघ्र ही चलिये। मार्गमें दो जगह ठहरना पड़ा था, अतएव शीघ्रतासे चले। बैजनाथजीका मत है कि श्रीजानकीजीके दर्शनकी उत्कण्ठासे शीघ्रतासे चले।) (घ) *'बिदेह नगर'* कहकर नगरकी अद्भुतता दिखायी। जैसे विदेह राजा अद्भुत हैं, देह धारण किये हुए भी विदेह हैं, वैसे ही उनका नगर भी अद्भुत है; यथा—*'बिधिहि भएहु आचरज बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥'* (३१४। ८) [(ङ) यहाँ 'प्रथम हेतु अलङ्कार' है। चलना कारण और विदेहनगरके समीप पहुँचना कार्य दोनों एक साथ कहे गये हैं। (वीर)]

पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी॥ ५॥
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधा सम मनि सोपाना॥ ६॥

शब्दार्थ—**रम्यता**=रमणीयता, सुन्दरता, शोभा। साहित्यदर्पणके अनुसार वह माधुर्य जो सब अवस्थाओंमें बना रहे वा क्षण-क्षणमें नवीन रूप धारण किया करे। **बापी**=बावली।

अर्थ—जब श्रीरामजीने नगरकी रमणीयता देखी तब (वे) भाई (लक्ष्मण) सहित अत्यन्त प्रसन्न हुए॥ ५॥ अनेकों बावलियाँ, कुएँ, नदियाँ और तालाब (देखे) जिनमें अमृतसमान (मधुर) जल और मणियोंकी सीढ़ियाँ हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'पुररम्यता'*……' इति। [(क) श्रीरामजी अब प्रसन्न हैं, उनकी प्रसन्नताके सम्बन्धसे *'पुररम्यता'* की प्रशंसा की। यथा—*'परम रम्य आरामु एहु जो रामहि सुख देत।'* (२२७) (प्र० सं०)] (ख) *'हरषे अनुज समेत बिसेषी'* से पाया गया कि पुर अत्यन्त रमणीय है। पुरकी विशेष शोभा है, इसीसे विशेष शोभा देखकर विशेष हर्ष हुआ। यथा—*'बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत।'* (२२७) (वि० त्रि० का मत है कि 'सभीको उसे देखनेसे हर्ष हुआ, परंतु सबके देखने और दोनों भाइयोंके देखनेमें अन्तर था। ये दोनों राजकुमार हैं, नगर-निर्माण-विज्ञानके पण्डित हैं। रत्नको सभी लोग देखते और उसकी रमणीयतापर मुग्ध भी होते हैं, पर उसके वास्तविक गुण तो जौहरी ही देखते हैं। श्रीराम-लक्ष्मणजी नगर-व्यवस्थापन-कलाके जौहरी थे, अत: इन्हें विशेष हर्ष हुआ)। [अथवा स्नान करके चले तब हर्ष हुआ और जब पुररम्यता देखी तब विशेष हर्ष हुआ। अथवा, धनुष-यज्ञ सुना तब हर्ष हुआ था, यथा—*'धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले'*……।'(२१०। १०) जब नगरकी शोभा देखी तब यह समझकर विशेष हर्ष हुआ कि जब बाहरकी यह शोभा है तो भीतर तो कुछ अपूर्व ही शोभा होगी। अथवा, विशेष हर्ष आगे कुछ विशेष मङ्गल होनेका द्योतक है। प्रवेशके समय हर्षका होना शकुन है, इसके फलस्वरूप श्रीराजकिशोरीजीकी प्राप्ति होगी। (बै०, रा० प्र०)] (ग) यहाँ यह शंका होती है कि और सब कृत्य तो मुनियोंके साथ वर्णन करते आये हैं, जैसे कि चलना, स्नान करना, दान देना, भोजन करना इत्यादि, परन्तु यहाँ मुनियों वा ऋषियोंसहित न कहकर *'अनुज समेत'* कहते हैं। यह क्यों? इसका

समाधान यह है कि मुनि सात्त्विकी होते हैं, वे रजोगुणी वस्तुओंको देखकर नहीं प्रसन्न होते वरंच श्रीरामसम्बन्धी सत्त्वगुणी पदार्थोंमें प्रसन्नता मानते हैं, जैसे, श्रीहनुमान्‌जी जब लंकामें गये तब वहाँके बड़े-बड़े दिव्य रत्नजटित स्थानों और महलोंको देखकर उन्हें प्रसन्नता न हुई और वहाँ जब विभीषणजीका सत्त्वगुणी स्थान देखा, विभीषणजीके मुखसे 'राम-राम' सुना और उनसे मिले तब प्रसन्न हुए। यथा—*'रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ। नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥'* (५। ५) वैसे ही यहाँ पुरकी रमणीयतासे ऋषियोंको हर्ष न हुआ। राजकुमारोंको राजसी पदार्थ देखकर हर्ष होना योग्य ही है। अतएव *'मुनि समेत'* न कहकर *'अनुज समेत'* हर्षित होना कहा गया।

प० प० प्र०—मिथिलापुरी देखकर मुनियोंको हर्ष नहीं हुआ। पर श्रीअयोध्याजीका सौन्दर्य आदि देखते ही मुनियोंकी क्या दशा हो जाती है यह उत्तरकाण्डमें देखिये। यथा—*'नारदादि सनकादि मुनीसा। ......दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगरु बिराग बिसरावहिं॥......महि बहु रंग रचित गज काँचा। जो बिलोकि मुनिबर मन नाचा॥'* (७। २७। १-६)

अब कहिये जनकपुरी श्रेष्ठ है या अवध? धनुर्भङ्गोत्सवके लिये सजायी हुई जनकपुरीको देखनेसे सानुज रघुनाथजीको हर्ष हुआ, यह ठीक है, पर वास्तविक कारण हर्षका क्या है यह निश्चित करनेके लिये यह बात ध्यानमें अवश्य रखकर विचार करना चाहिये कि जो सम्राट्‌कुमार अवधसरीखे परम रमणीय नगरमें रहते थे, उन्होंने १५-२० दिनोंतक किसी भी नगर आदिकी शोभा देखी नहीं, कुछ दिन तो घने काननमें और कुछ दिन मुनि-आश्रममें रहनेके पश्चात् आज रम्य जनकपुरी देखी, इससे उनको हर्ष होना बाल-स्वभाव-निदर्शक है। ☞दोनों पुरियोंका मिलान दोहा २१४ (३-४) में देखिये।

टिप्पणी—२ *'बापी कूप......'* इति। (क) सब जलाशयोंमें सीढ़ियाँ हैं। बावलियोंमें नीचे उतरनेकी, कुओंमें कुएँकी जगतपर चढ़नेकी, नदियों और तालाबोंमें बँधे हुए पक्के घाटोंपर उतरनेके लिये सीढ़ियाँ हैं। [(ख) *'सुधा सम'* अर्थात् मधुर, मनोहर, मङ्गलकारी, सुशीतल, रोगहारक इत्यादि। *'नाना'* कहा, क्योंकि जनकपुरमें बड़े-बड़े बहुत तालाब थे, अब भी रत्नसागर, बिहारकुण्ड, अग्निकुण्ड आदि बड़े-बड़े तालाब और कमला, विमला, दूधमती, लक्ष्मणा, रासो आदि अनेक छोटी-छोटी नदियाँ हैं।]

गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥ ७॥
बरन बरन बिकसे बनजाता। त्रिबिध समीर सदा सुखदाता॥ ८॥

शब्दार्थ—**कूजना**=मधुर शब्द करना; चहचहाना। **बनजाता**। बन (=जल)+जाता=कमल।

अर्थ—मकरन्दरस पीकर मतवाले भौंरे सुन्दर गुंजार कर रहे हैं। बहुत रंग-विरंगके पक्षी सुन्दर मधुर शब्द कर रहे हैं॥ ७॥ रंग-विरंगके कमल खिले हैं। शीतल, मन्द और सुगन्धित तीन प्रकारकी वायु सदा सुख दे रही है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'गुंजत मंजु......'* इति। (क) जलाशयों (वापी, कूप, सरित, सर) का वर्णन करके पक्षियोंका वर्णन करते हैं, इससे पाया गया कि ये जलाशयके पक्षी, जलकुक्कुट और कलहंस आदि हैं। यथा—*'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा।'* (३। ४०। २) (यह पम्पासरपरका वर्णन है)। (ख) *'मंजु'* कहनेका भाव कि भ्रमर गुंजार करते हुए छबि पा रहे हैं, यथा—*'मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं।'* (ग) *'मत्तरस भृंगा'* भ्रमरोंको यहाँ रससे मतवाले कहकर आगे उस रसका वर्णन करते हैं कि कहाँसे मिला, *'बरन बरन बिकसे बनजाता।'* *'मत्तरस'* कहकर जनाया कि कमल फूले हुए हैं। भ्रमर और पक्षी कमलके स्नेही हैं, इसीसे भ्रमरोंका गुंजार और पक्षियोंकी कूज कहकर आगे कमलका फूलना कहते हैं। [मत्तरस=रसके मतवाले। (पां०)]

टिप्पणी—२ (क) *'बरन बरन बिकसे बनजाता'* इति। यथा—*'सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा।'* तथा *'बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहु रंग।'* दोहा ३७ (५) भाग १ तथा दोहा ४० भाग १ देखिये। (ख) *'त्रिबिध समीर सदा सुखदाता'* इति। नदी और तालाबोंके जलके स्पर्शसे वायु शीतल है, सुमन-वाटिका और कमलोंके स्पर्शसे सुगन्धित है और बन-बागकी आड़से आती है इससे

मन्द है। सदा त्रिविध समीर चलती रहती है, इससे पाया गया कि कमल और पुष्प-वाटिकाएँ सदा फूली रहती हैं अर्थात् वसन्त यहाँ सदा बना रहता है, इसीसे 'सदा सुखदाता' कहा। (वसन्त सुखदायक होता ही है।) (ग) ☞ यहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंका सुख वर्णन करते हैं। *'बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधा सम मनि सोपाना॥'* से जिह्वा इन्द्रियका, *'गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥'* से श्रवणेन्द्रियका, *'बरन बरन बिकसे बनजाता'* से नेत्रेन्द्रियका (फूले हुए कमलोंको देखकर नेत्रोंको सुख मिलता है) और *'त्रिबिध समीर सदा सुखदाता'* से नासिका और त्वचाका सुख कहा। सुगन्ध नासिकाका विषय है और स्पर्श त्वचाका। [यहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके विषय प्राप्त हैं। *'सलिल सुधासम'* यह जिह्वाका विषय रस है, *'गुंजत .... कूजत कल'* यह पक्षियों आदिका शब्द श्रवणका विषय है, *'त्रिबिध समीर'* में सुगन्ध और स्पर्श नासिका और त्वचाके विषय कहे गये और रंग-विरंगके कमल यह नेत्रोंका विषयरूप प्राप्त है। (प्र० सं०)]

दो०—सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास।
फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास॥ २१२॥

अर्थ—पुष्पवाटिका (फुलवारी), बाग और वन, जिनमें बहुत-से पक्षियोंका निवास है, फूलते, फलते और सुन्दर पत्तोंसे लदे हुए नगरके चारों ओर सुशोभित हैं॥ २१२॥

श्रीराजारामशरणजी—हमने पहिले भी कहा है कि कवि चित्रपट (परदा) भी शब्दरूपमें वर्णन कर देता है कि एक ओर नाटकके परदे बनानेवालेको सहायता मिले और दूसरी ओर केवल पढ़नेवालेके सामने पूरा चित्र आ जावे। यहाँके और आगेके वर्णनोंमें निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

१ प्राकृतिक सौन्दर्य वाटिका, बाग और वन तथा उनके अंदरके पुष्प इत्यादिमें है।

२ मानवीय कलाका भी सुन्दर वर्णन है।—(क) 'मनिसोपान'—*'चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे'* इत्यादिमें पच्चीकारी और मीनाकारीका संकेत है। (ख) कोट और महलोंके वर्णनमें शिल्पकला। (ग) पुरट पट और कुलिशकपाट इत्यादिमें सुवर्णकारी और जड़ियोंकी कला। (घ) सारे वर्णनमें 'नगर-रचना' (Town Planning) की कला।—मैंने अपने एक वैदिक मेगजीन (Vedic Magazine) में प्रकाशित लेखमें तुलसीदासजीकी Designing Art डिजाइनिंग कलाका विस्तारसे वर्णन किया है। जनकपुर और अयोध्याके वर्णनोंमें 'नगररचनाकला'का पूर्ण विकास है। (ङ) चित्र सूना और चुप नहीं है। वहाँ मानवी प्रगतियाँ चुहिल-पुहिल, 'त्रिबिधि बयारि' कलरव इत्यादि भी हैं। किसीने ठीक कहा है कि फ़िल्मकलाकारका प्रकटीकरण चित्रोंद्वारा ही होता है। हमने देखा है और देख रहे हैं कि तुलसीदासजीकी चित्रणकला भी वैसी ही है।

नोट—मैं तो जब 'ताज' और आगरा एवं दिल्लीके महल इत्यादि और उनकी शिल्प पच्चीकारी व मीनाकारीको देखता हूँ और यह स्मरण करता हूँ कि 'मानस' की रचना शाहजहाँसे पहिले हो चुकी थी और यह समझता हूँ कि तुलसीदासजीका सम्बन्ध रहीम खाँ व ख़ानख़ाना इत्यादिसे था तो यह अवश्य निश्चय होता है कि मूल कारीगरोंपर हमारे कविका प्रभाव निश्चय ही पड़ा है। (फुलवारी, गिरिजामन्दिर और सीताविवाहमण्डपको साथ-साथ विचारिये और यहाँके वर्णनके साथ देखिये।)

३ हाँ, यह याद रहे कि यहाँ एक परदा नहीं किंतु अनेक परदे हैं। यह भी याद रहे कि आगेकी नाटकीय कलावाली वार्ताओंमें यथासमय हमको इन्हीं परदोंमेंसे उचित परदेकी उपस्थिति समझ लेनी चाहिये। कविने इसीलिये एक जगह लिख दिया है कि वार्ताओंके बीचमें अड़चन न हो।

४ गान्धीजीने एक बार ठीक लिखा था कि 'बिहार' प्रान्तका नाम ही प्रकट करता है कि प्रकृतिमाताका वह विहारस्थान है। *'सियनिवास'* होना भी उसी ओर संकेत करता है। आज भी संसारके सबसे घने वासस्थलोंमें चीन और बिहार ही समझे जाते हैं। बिहारके लिये किसीने ठीक कहा है कि सारा सूबा ही प्राकृतिक सम्पत्ति और सुन्दरताके साथ एक ही बस्ती-सी है।

महाकाव्यकलामें जहाँ प्रकृतिमाताका पूर्ण विकास है वहीं 'रम्यता' है और इसीलिये रामरूप पुरुष वहीं आकर रमता है—'*गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद जिन्हहिं*.......॥' प्रकृतिमाता और पुरुष-पिताका आकर्षण एक-दूसरेकी ओर फिर उनका सम्मिलन ही एक ओर महाकाव्यका दृश्य है तो दूसरी ओर शुद्ध शृङ्गारके नाटकीय कलाका भी।

नोट—प्रारम्भमें विस्तृत नोटका आशय ही यह है कि इस दृष्टिकोणसे विचार करते चलें तो कलाका मर्म और उसकी सुन्दरताका विशेष अनुभव होगा।

५ कैसी सुन्दरतासे ऐसे दृश्य दिखाकर राम और लक्ष्मणमें Estetic Faculty सौन्दर्यानुभवकी शक्तिका विकास कुशल कवि कराता है, नहीं तो अबतक तो शान्त और वीर रसोंका ही विकास उनमें था—'*पुररम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी*॥'

टिप्पणी—१ (क) '*सुमनबाटिका बाग बन फूलत फलत सुपल्लवत*' में 'यथासंख्य अलंकार' है। पुष्पवाटिका फूलती है, बाग फलते हैं और वन सुन्दर पत्तोंसे सुशोभित रहते हैं। (ख) '*बिपुल बिहंग निवास*' इति। पूर्व जो पक्षी कहे गये वे जलके आश्रित रहनेवाले पक्षी अर्थात् जलपक्षी थे और ये वन-बाग-वाटिकाके पक्षी हैं, इसीसे उनसे पृथक् यहाँ पुनः 'बिहंग' का वर्णन हुआ। भ्रमरोंको ऊपर कहा—'*गुंजत मंजु मत्तरस भृंगा*' पर यहाँ न कहा; ये भी तो दोनों जगह, जल और थलमें होते हैं। इसका उत्तर यह है कि भ्रमर वाटिका आदिमें भी अवश्य होते हैं इसमें सन्देह नहीं, परंतु भ्रमर न्यारे-न्यारे नहीं हैं, वही भौंरा जलके आश्रित फूलोंपर और वही वाटिकाके फूलोंपर बैठता है; इससे दोनोंके भौंरोंको एक ही जगह कहकर एक ही जनाया। (ग) '*सोहत पुर चहुँ पास*' इति। जिस प्रकार ये सब पुरके चारों ओर सोह रहे हैं वह क्रमसे दिखाते चले आ रहे हैं। इस तरह कि पुरके बाहर प्रथम '*बापी कूप सरित सर*' हैं, तब सुमनवाटिका हैं, फिर बाग हैं, अन्तमें वन हैं। यथा—'*बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं*।' (५। ३) वहाँ लङ्कामें पुरके बाहरसे पुरतकका वर्णन किया है। ऐसा ही क्रम अयोध्याके वर्णनमें है, जब पुरके बाहरसे पुरतकका वर्णन किया गया है। यथा—'*बाहेर नगर परम रुचिराई। देखत पुरी अखिल अघ भागा॥ बन उपबन बाटिका तड़ागा॥ बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं। सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं॥ बहुरंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं। आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं*॥' (७। २९) और यहाँ जनकपुरमें '*सोहत पुर चहुँ पास*' और आदिमें '*पुर रम्यता राम जब देखी*' पद देकर जना दिया कि पुरके पाससे बाहर वनतकका वर्णन यहाँ उठाया है। (घ) ☞ यहाँ पुरकी और वापीकूपादिकी अन्योन्य शोभा कहते हैं। पुरकी शोभा वापीकूपादिसे है और वापीकूपादिकी शोभा पुरके पास चारों ओर होनेसे है।

बनै न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाब मन तहँ लोभाई॥ १॥
चारु बजारु बिचित्र अँबारी। मनिमय बिधि* जनु स्वकर सँवारी॥ २॥

शब्दार्थ—**निकाई**=शोभा, सुन्दरता। **अँबारी**=छज्जा। (श० सा०)।=रविश। (श० सा०)।=तिदरी दूकान। (पश्चिमदेशोंमें)।=दोनों तरफकी दूकानें=दूकानोंकी कतार (पंक्ति) की कतार। (रा० प्र०)।=दूकानोंके सामनेके मार्ग या पटरी। (गौड़जी) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि नीचेके मंजिलकी दूकानोंकी पंक्तिको बाजार, ऊपरके मंजिलके कमरोंको अंबारी (जिनमें कोठियाँ चलती हैं) और सर्वोपरि मंजिलकी अटारी संज्ञा है। **स्वकर**=अपने हाथसे।

अर्थ—नगरकी शोभा सुन्दरताका वर्णन नहीं करते बनता। मन जहाँ जाता है वहीं लुभा जाता है॥ १॥ सुन्दर बाजार है। मणिजटित वा मणिकी ही विचित्र 'अँबारी' है मानो ब्रह्माजीने अपने हाथोंसे सजकर बनायी है॥ २॥

नोट—१ पुरके चारों ओरकी शोभा कहकर अब पुरके भीतरकी शोभा कहते हैं। पुरके बाहरकी

* जनु बिधि—१७२१, १७६२, को० रा०। बिधि जनु—१६६१, १७०४, छ०।

शोभा इतनी भारी है कि उसने दोनों भाइयोंको विशेष हर्षित कर दिया, अर्थात् लुभा लिया, यथा—'*हरषे अनुज समेत बिसेषी।*' तब पुरके भीतरकी शोभा कौन कह सकता है? यथा—'*पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई॥*' (७। २९) अतः कहा कि '*बनै न बरनत नगर निकाई।*'

टिप्पणी—१ '*बनै न बरनत*......' इति। (क) '*बनै न बरनत नगर निकाई*' का भाव कि हमने पुरके बाहरका वर्णन किया, किंतु भीतरका नहीं कर सकते। पुनः, भाव कि पुरके भीतरकी शोभाका वर्णन करनेको जी तो चाहता है, पर उसका वर्णन करते नहीं बनता। क्यों नहीं करते बनता, इसका कारण दूसरे चरणमें देते हैं—'*जहाँ जाइ मन*......' मन ही लुब्ध हो जाता है (जो इन्द्रियोंका राजा है) तब वर्णन कैसे हो? मन सावधान हो तब तो कुछ कहा जा सके, यथा—'*सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥*' (५। ३३) जब कारण ही नहीं तो कार्य कैसे हो? वर्णन करनेमें मन ही तो मुख्य है, वाक् आदि इन्द्रिय तो उसीके अधीन कार्य करते हैं। (ख) '*जहाँ जाइ मन तहँ लोभाई*' कहकर जनाया कि पुरकी शोभा अपार है। [(ग) शंका—'*निकाई*' का वर्णन नहीं हो सकता तो आगे उसका वर्णन कैसे किया?' समाधान—आगेका वर्णन कुछ अंशोंका दिग्दर्शनमात्र है। '*निकाई*' के कुछ ही अंशों वा अङ्गोंका वर्णन आगे है, न कि '*निकाई*' का (घ) '*नगर निकाई*' के और भाव—(१) 'कोई नगर किसी वस्तुका होता है, यह नगर '*निज निकाई*' का है। (पा०) अथवा, (२) जैसे देवनगर, गन्धर्वनगर इत्यादि, वैसे ही यह 'निकाई-नगर' है। अर्थात् सुन्दरताका निवासस्थान है (जो '*सुंदरता कहँ सुंदर करई*' उन श्रीसीताजीका यहाँ निवास है), इसीसे '*बनै न बरनत*'। (रा० प्र०)]

नोट—२ यहाँ एक शङ्का यह की जाती है कि 'अभी तो श्रीरामजीने नगरमें प्रवेश नहीं किया, अभी तो वहाँकी शोभा उनके देखनेमें नहीं आयी। बिना नगरमें प्रवेश किये उनको नगरकी शोभा कैसे देख पड़ी, जो आपने अभीसे शोभाका वर्णन प्रारम्भ कर दिया? जब वे नगरमें प्रवेश करते और उसे देखते चलते तब उसका वर्णन योग्य था?' समाधान यह है कि यह वर्णन वक्ताओंका है। वे ही भीतरकी शोभा कह रहे हैं। श्रीरामजीने अभी पुरके बाहरकी शोभा देखी है (इसीसे पुरके बाहर उनका देखना कह आये; यथा—'*पुररम्यता राम जब देखी।*' पुरके भीतरकी शोभा अभी उन्होंने नहीं देखी, इसीसे भीतरके वर्णनमें उनका देखना नहीं कहा)। आगे पुरके भीतरकी शोभा देखने जायँगे तब उसको लिखना था, पर उस समय पुरवासिनियोंकी प्रीति और सखियोंकी वार्तालाप लिखनी है। (उस समय पुरकी शोभाका वर्णन करनेमें अड़चन पड़ेगी, वहाँ नगरका वर्णन करनेसे संवादमें नीरसता आ जानेका भय है, वहाँ पुरकी शोभाके वर्णनका मौका न होगा।) इसलिये वक्ता लोगोंने नगरकी शोभाका दिग्दर्शन यहीं करा दिया। आगे नगरमें यही वर्णन समझ लेना चाहिये।

नोट—३ करुणासिंधुजी यहाँ 'नगर' से कोटका भाव लेते हैं और लिखते हैं कि बाहर 'चहुँ फेर नगर' देखकर पश्चिम दरवाजेसे नगरमें प्रवेश किया। यहाँ 'बाजार' आदिक हैं। बैजनाथजी भी यही लिखते हैं।

परंच यहाँ राजकुमारोंका नगर-प्रवेश करना गौरवताके विरुद्ध है, क्योंकि आगे केवल राजकुमारोंके अपरिचित प्रवेशमें कहर मच गया, जब परिचित विश्वामित्रके साथ प्रवेश होता तो क्या चुपचाप निकलकर अमराईको निकल जाते? इससे यहाँ नगरके निकट पहुँचनेपर राजकुमारोंका बाहरी शोभाका अवलोकन हुआ और यहाँ समयगत नगर-वर्णन कविकी ओरसे है। और राजकुमारोंके सम्मानार्थ '*कौसिक कहेउ मोर मन माना*......' से रघुवीरको सुजान विशेषण देकर ऐश्वर्य-विभूतिका लक्ष्य कराकर अमराईमें निवास कराया। जब जनकजी स्वयं आकर ऐश्वर्यमें मुग्ध होके इनको ले गये तब पुरप्रवेश उचित है; अतएव कविने पुरकी बाहरकी शोभासे उपक्रम किया और '*पुरबाहिर सरसरित समीपा।*......।' (२१४। ४) से अन्तमें उपसंहारकर अमराईका वास लिखा। (रा० च० मिश्र)

टिप्पणी—२ '*चारु बजार बिचित्र अँबारी*' इति। (क) प्रथम नगरकी समष्टि शोभा कही, '*बनै न बरनत नगर निकाई*'। अब पृथक्-पृथक् बाजार इत्यादिकी शोभा कहते हैं। क्रमसे पुरका वर्णन करते हैं—प्रथम पुरके बाहरकी शोभा कही, फिर बाजारकी तब पुरवासियोंके निवासस्थानोंकी, तत्पश्चात् राजा जनक और उनके मन्त्रियों आदिके स्थानोंकी शोभा कही। (ख) सब वस्तुओंको सुन्दर कहते

हैं, विस्तारसे वर्णन किसीका नहीं करते। ऐसा करके *'बनै न बरनत नगर निकाई'* इस वचनको सिद्ध रखा। [(ग) *'बिचित्र'* से जनाया कि रङ्ग-बिरङ्गकी मणियोंसे जटित हैं। अथवा, मणियोंकी ही बनी हैं, इसीसे अनोखी हैं। अथवा, दूकानोंमें चित्र-विचित्र पदार्थ रखे होनेसे ये भी विचित्र हैं। अथवा, उनमें अनेक चित्र बने हैं, चित्रसारी होनेसे विचित्र कहा।] (घ) *'मनिमय'* कहकर वस्तुसे मकानकी शोभा कही और *'बिधि जनु स्वकर सँवारी'* से दूकानोंके बनावकी शोभा कही। ब्रह्मा सृष्टिकी रचना मनके संकल्पमात्रसे करते हैं। यहाँ *'स्वकर सँवारी'* कहकर ब्रह्माकृत बनावकी उत्कृष्टता कही। जो ब्रह्मा ब्रह्माण्डकी रचना अपनी इच्छा (संकल्पमात्र) से कर सकता है, उसने जनकपुरको अपने हाथसे बनाया और वह भी सँवारकर। [तात्पर्य कि जनकपुरकी शोभा ऐसी है कि ब्रह्माकी सृष्टिमें किसी नगरकी नहीं है। इसीसे कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो ब्रह्माने इसमें अपना तन-मन दोनों लगा दिया। *'जनु'* शब्दसे सूचित होता है कि मिथिलापुरी स्वतः सिद्ध है और ब्रह्माकी रचनासे बाहर है।]

धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना॥ ३॥
चौहट सुंदर गली सुहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई॥ ४॥
मंगलमय मंदिर सब केरें। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरें॥ ५॥

शब्दार्थ—**चौहट**=चौक जहाँ शहरपनाहके चारों फाटकोंसे जो राजमार्ग आये हैं वे मिले हैं; प्रायः जौहरी और बड़े महाजन यहीं बैठते हैं। **चितेरे**=चित्रकार, तसवीर बनानेवाले, यथा—*'मनहुँ चितेरे लिखि लिखि काढ़ी'* (सूर)।

अर्थ—श्रेष्ठ कुबेरके समान अनेकों श्रेष्ठ धनाढ्य बनिये (व्यापार करनेवाले) सभी तरहकी (बेचनेकी) अनेक वस्तुएँ लेकर (दुकानोंमें) बैठे हैं॥ ३॥ सुन्दर चौकें और सुहावनी गलियाँ हैं, जो निरन्तर (अरगजा आदि) सुगन्धसे सिंचाई हुई रहती हैं॥ ४॥ सबके घर मङ्गलमय हैं। उनमें चित्र कढ़े हुए हैं मानो कामदेवरूपी चित्रकारने उनको बनाया है। अर्थात् अत्यन्त सुन्दर चित्र बने हुए हैं॥ ५॥

नोट—१ *'बर धनद'* कहकर इनको कुबेरसे अधिक धनाढ्य जनाया।

टिप्पणी—१ *'धनिक बनिक बर धनद समाना।'* इति। (क) ☞ बाजार कहकर अब बाजारमें बैठनेवालोंको कहते हैं। (ख) *'बर धनद समाना'* का भाव कि कोई-कोई कुबेरके समान हैं और कोई-कोई कुबेरसे *'बर'* अर्थात् श्रेष्ठ हैं। अधिक, सम और कम तीन संज्ञाएँ होती हैं। इनमेंसे जनकपुरके वणिक् कुबेरसे या तो अधिक धनाढ्य हैं या कुबेरके समान हैं, कुबेरसे कम कोई नहीं है। धनिक 'बनिक' का विशेषण है; क्योंकि जिसके धन हो वही 'धनिक' कहलाता है, और वस्तु बेचना सबका धर्म नहीं है, वैश्यहीका धर्म वस्तु बेचना है। यह बाजार है, यहाँ वणिक्की ही दुकानें हो सकती हैं जो व्यापार करते हैं, अन्य धनी लोग यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं। अथवा, *'बर धनद समाना'*= धनी वणिक् कुबेरके समान श्रेष्ठ हैं।* (ग) *'बैठे सकल बस्तु लै नाना'* इति। *'बर धनद समाना'* कहकर *'बैठे सकल……'* कहनेका भाव कि यद्यपि कुबेरके समान हैं, तब भी बाजारमें वस्तु लेकर बेचनेके लिये बैठे हैं। तात्पर्य कि धनाढ्य होनेपर भी अपने धर्ममें तत्पर हैं, उसे त्यागा नहीं। *'सकल'* अर्थात् बजाज, सराफ इत्यादि सभी वैश्य हैं, यथा—*'बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहु कुबेर ते।'* [*'सकल'* वस्तुका विशेषण भी हो सकता है। भाव यह कि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो उनके पास न हो। (प्र० सं०)] (घ) *'चौहट सुंदर गली सुहाई।'* इति। बाजारके आगे चौक है, अब उस चौककी शोभा कहते हैं। बाजार, चौक और गलियाँ सभी सुन्दर हैं, इसीसे सबमें सुन्दरतावाचक विशेषण दिये। चारु बजारु, सुन्दर चौहट, सुहाई गली। (ङ) *'संतत रहहिं सुगंध सिंचाई'* इति। यथा—*'मृग मद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह*

* करुणासिंधुजी धनिकसे सर्राफ और वणिक्से 'अन्य पदार्थ बेचनेवाले' ऐसा अर्थ करते हैं। और पांडेजीके मतानुसार 'धनिक'=बेचनेवाले और 'बनिक'=मोल लेनेवाले, दोनों कुबेरके समान हैं अर्थात् न उनकी वस्तु चुके, न उनका धन चुके। पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं 'बणिक कुबेरके समान धनिक और कुबेरसे श्रेष्ठ हैं।'

बिच बीचा॥' 'गली सकल अरगजा सिंचाई।' 'संतत' कहनेका भाव कि अन्यत्र उत्सवोंमें गलियाँ सींची जाती हैं और यहाँ निरन्तर सुगन्धसे सींची जाती हैं। [चौक, बाजार, गलियोंकी सफाई, शुद्धता और अरगजासे सिंचाई देखकर अनुमान होता है कि यह सब सफाई आदि स्वयंवरके कारण हुई है, इसका निराकरण करनेके लिये 'संतत' शब्द दिया। राजाका प्रताप इससे प्रकट होता है। (पं०) ☞ इस सम्बन्धमें यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जनकपुरमें 'अरगजाकुण्ड' भी है।]

टिप्पणी—२ *'मंगलमय मंदिर सब केरें।'''''* इति। (क) *'मंगलमय'* अर्थात् बंदनवार, पताका, अक्षत, अङ्कुर, दूब, दधि इत्यादि मङ्गलवस्तुओंसे सब पूर्ण हैं; यथा—*'बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगल हेतू॥'* (७। ९) *'कनककलस तोरन मनिजाला। हरद दूब दधि अक्षत माला॥ मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ॥' 'हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगलमूला॥ अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा॥'* पुन: भाव कि मङ्गलकारक मङ्गलदाता श्रीगणेशादि देवताओंकी प्रतिमाएँ वा चित्र घर-घर बाहर कढ़े हुए हैं, यथा—*'सुरप्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ीं। मंगलद्रव्य लिये सब ठाढ़ीं॥'* (२८८। ७) ☞स्मरण रहे कि बाजार, राजाके महल और पुरवासियोंके मन्दिर सभी मणिमय हैं, यथा—*'चारु बजारु बिचित्र अँबारी। मनिमय जनु बिधि स्वकर सँवारी॥' 'धवलधाम मनि-पुरट-पट्ट सुघटित नाना भाँति॥ २१३॥'* और *'नृपगृह सरिस सदन सब केरे॥'* (२१४। ३) इस सम्बन्धसे *'मंगलमय मंदिर'* से सूचित करते हैं कि सबके घरोंमें मणियोंके बन्दनवार हैं, मणिमय कदलीके खम्भे हैं, मणिमय कमलके फूल हैं और मणियोंहीकी सुरप्रतिमाएँ दीवारों और द्वारोंपर कढ़ी हुई हैं तथा सभी मङ्गलद्रव्य मणिमयी ही हैं। प्रमाण, यथा—*'मंजुल मनिमय बंदनवारे। मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे॥' 'बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा॥ बिरचे कनककदलि के खंभा। मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीर कोरि पचि रचे सरोजा॥ सुर प्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ीं। मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ीं॥'* इत्यादि। जैसे विवाहके समय मण्डपादिकी रचनामें ये सब मङ्गल मणिमय बनाये गये, वैसे ही घर-घर मङ्गलद्रव्य मणिमय मन्दिरोंके साथ-ही-साथ बनाये हुए हैं। [नोट—'अभी तो विवाहादिका प्रसङ्ग कुछ भी नहीं है, अभीसे बन्दनवारादि मङ्गल-रचनाएँ क्यों की गयीं? इस सम्भावित शङ्काका समाधान टिप्पणीसे हो गया कि यहाँ सबके घरोंमें ये मणिमय स्वत: बने हुए हैं जो सदा एकरस बने रहते हैं, यह बनाव कुछ इस समय नहीं किया गया है। दूसरा समाधान श्रीसंतशरण पंजाबीजीकृत यह है कि 'ऐसा भी हो सकता है कि धनुषयज्ञके लिये अनेकों राजा आये हुए हैं, अतएव नगर सजाया गया है।'] (ख) *'सब केरे'* कहकर जनाया कि सबोंके मन्दिर एक प्रकारके हैं। बाजारकी दूकानें सब मणिमय हैं और एक ही प्रकारकी हैं। बनिक सब एक ही प्रकारके हैं। कुबेरके समान हैं। चौकें और गलियाँ सब एक प्रकारकी और सदा सुगन्धसे सींची हुई रहती हैं। सबके मन्दिर मङ्गलमय चित्रित एक ही प्रकारके हैं। पुर-नर-नारि सब एक ही प्रकारके अर्थात् सुभग, शुचि, सन्त धर्मशील, ज्ञानी और गुणवान् हैं। जनकजी और सूर, सचिव, सेनप सभीके स्थान एकही-से हैं।—सबको समान दिखाकर जनाते हैं कि राजा जनककी दृष्टि सबपर समान है, इसीसे सबको (अपने) समान बनाये हैं।

नोट—२ *'चित्रित जनु रतिनाथ चितेरें'* इति। कामदेव शृङ्गाररसका देवता है, इससे वह जो चित्रकारी करेगा वह अवश्य अति सुन्दर होगी। अतएव यहाँकी अति सुन्दरता जनानेके लिये उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो कामदेवहीने चित्रकार (मुसव्विर) का रूप धरकर मङ्गल पदार्थोंकी चित्रसारी की है। यहाँ 'असिद्धविषयाहेतूत्प्रेक्षा' अलंकार है।

पुर नर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवंता॥ ६॥
अति अनूप जहँ जनक निवासू। बिथकहिं बिबुध बिलोकि बिलासू॥ ७॥
होत चकित चित कोट बिलोकी। सकल भुवन सोभा जनु रोकी॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिथकहिं**=बहुत ही दंग रह जाते हैं। स्तब्ध, मुग्ध वा मोहित होकर देखते रह जाते हैं, वहाँसे हटनेको जी नहीं चाहता।

अर्थ—नगरके स्त्री और पुरुष सब सुन्दर, पवित्र, संतस्वभाव, धर्मात्मा, ज्ञानी और गुणवान् हैं॥ ६॥ जहाँ जनक महाराजका निवासस्थान है वह (तो) अत्यन्त अनुपम है। वहाँके ऐश्वर्य एवं शोभाको देखकर देवता भी विशेष थकित (स्तम्भित) हो जाते हैं॥ ७॥ किलेको देखकर चित्त चकित हो जाता है, मानो उसने सब लोकोंकी शोभाको रोक रखा है*॥ ८॥

☞ *'पुर नर नारि सुभग सुचि संता'''''।'* से मिलता-जुलता वर्णन आगे भी है, यथा—*'नगर नारि नर रूपनिधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना॥'* (३१४। ६)

टिप्पणी—१ (क) मन्दिरोंकी शोभा कहकर अब उनमें रहनेवालोंकी शोभा कहते हैं। (ख) 'संत, धर्मसील, ज्ञानी' कहकर जनकपुरवासियोंको कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे युक्त जनाया। संतसे उपासक, धर्मशीलसे कर्मपथमें आरूढ़ और ज्ञानीसे ज्ञानकाण्डयुक्त कहा। सुभग (सुन्दर) और शुचि (पवित्र) शरीरसे। पुनः, संतसे भगवान्‌के दास और साधुलक्षणोंसे युक्त जनाया, वेषधारी नहीं। और ज्ञानीसे पदार्थ और समयके जाननेवाले भी जनाया। (ग) *'पुर नर नारि'* कहकर *'सुभग सुचि संत'* इत्यादि सब लक्षण चारों वर्णों और चारों आश्रमोंमें दिखाये। इसीसे किसी एक वर्ण या आश्रमका नाम नहीं लिखा। ये छः गुण सबोंमें हैं, क्या नीच, क्या ऊँच, क्या स्त्री, क्या पुरुष! (घ) प्रथम *'सुभग'* गुण देनेका भाव कि शरीर सबका अधिष्ठान है, इसीसे प्रथम शरीरकी सुन्दरता कही। शरीर सुन्दर है और उसको वे सदा 'शुचि' अर्थात् पवित्र रखते हैं।†

टिप्पणी—२ (क) *'अति अनूप'* इति। जनकनिवासको *'अति अनूप'* कहकर पूर्व कहे हुए सब स्थानोंको 'अनुपम' जना दिया। *'जनक निवासू'* कहनेमें भाव यह है कि राजाओंके अनेक स्थान और महल होते हैं, सब पुर भी जनकजीका ही है पर उससे यहाँ तात्पर्य नहीं है, जो उनका खास निवासस्थान है, जिसमें वे रहते हैं, वह *'अति अनुपम'* है। (ख) *'बिथकहिं'* का भाव कि सभी पुरवासियोंके स्थान अनुपम हैं, उन्हींको देखकर देवता थक जाते हैं, यथा—*'देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहि लघु लागे॥'* (३१४। ४) और जनकजीका स्थान 'अति' अनुपम है, इससे इसको देखकर 'विशेष थक' जाते हैं। (ग) *'बिथकहिं बिबुध'* का भाव कि जब बड़े-बड़े पण्डित, देवता दंग रह जाते हैं तब औरोंकी गिनती ही क्या? देवताओंके पास बड़ा ऐश्वर्य है सो उनका यह हाल है कि *'जो संपदा नीच गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा॥'* तब जनकजीकी सम्पदा देखकर देवता 'थक' गये तो आश्चर्य ही क्या? पुनः *'जेहि तिरहुति तेहि समय निहारी। तेहि लघु लगहिं भुवन दसचारी॥'* (२८९। ७) तब भला राजाके स्थानकी शोभा कहाँतक कहें।

टिप्पणी—३ *'होत चकित चित कोट बिलोकी।'''''* इति। (क) प्रथम जनकमहाराजके स्थानका ठिकाना न लिखा, इतना ही कहा कि *'अति अनूप'* है। अब उसका ठिकाना बताते हैं कि कोटके भीतर है। (ख) नगरके विषयमें कहा था कि *'जहाँ जाइ मन तहँ लोभाई।'* पुरकी शोभामें मन लुब्ध हो गया और कोटकी शोभा देखकर यहाँ 'चित्त' 'चकित' हो गया, आश्चर्यमें डूब गया, क्योंकि *'सकल भुवन'* की शोभा एकत्रित हुई है। (ग) ☞किसी-किसी राजाका नगर कोटके भीतर रहता है, जैसे कि अयोध्याका, यथा—*'पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर।'* परंतु जनकपुर कोटके बाहर है, इसीसे जनकपुरको पृथक् कहा और कोटको उससे पृथक् अब कह रहे हैं। [(घ) *'भुवन सोभा जनु रोकी'* अर्थात् ब्रह्माण्डभरकी शोभा अपनेमें धारण कर ली है। (पं०)]

रा० च० मिश्रजी—जनक-भवनका वर्णन करते समय प्रथम कविका चित्त भवन कोटपर पड़ा। इसीके वर्णनसे कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि सम्पूर्ण भुवनोंकी शोभारूपिणी श्रीजनकतनयाको *'जनु'* अपने अंदर रोक रखा है। 'जनु' पद इसलिये दिया है कि श्रीकिशोरीजीकी शोभा रोकी नहीं रह सकती। अतएव आगे

* अर्थान्तर—'मानो सकल भुवनकी शोभा कोटके भीतर रोकी है।' (पं० रामकुमार)

† पाण्डेजी—'सुभग=सुन्दर ऐश्वर्य (से पूर्ण)। शुचि=पवित्र शान्तरससे युक्त।' 'शुचि' से भीतर-बाहर दोनोंकी पवित्रता जनायी। पवित्र मन और पवित्र आचरण।

दोहेके पूर्वार्द्धमें भवनद्वारको लक्ष्यकर कहते हैं कि जहाँ सीताजीका स्वयं निवास ही है उस सुन्दर सदनकी शोभा कैसे कही जा सकती है।

नोट—रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'कोटकी आड़में सकल भुवनकी शोभा पड़ गयी है (अर्थात् इसके आगे उसे कोई देख ही नहीं सकता)। वा, सकल भुवनकी शोभाको रोककर उसपर इसने अपना दखल कर लिया है।' श्रीबैजनाथजी इस प्रकार अर्थ करते हैं कि सब लोकोंकी शोभाको बटोरकर किलारूपी सीमा खींचकर रोक ली है।' और कुछ लोग यह भाव कहते हैं कि सब भुवनोंकी शोभा प्रकृतिमय है और कोटके भीतरकी अप्राकृत है, इससे मानो वह उन सबोंको भीतर नहीं आने देता इत्यादि।

दो०—धवल धाम मनि पुरट पटु सुघटित नाना भाँति।
सिय निवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाति॥ २१३॥

शब्दार्थ—**धवल**=उज्ज्वल, स्वच्छ। **पुरट**=सोना, सुवर्ण। **पट**=किवाड़े। परदे (रा० प्र०)। वस्त्र। (पं० रा० कु०) **'मनि पुरट पटु'**=मणिजटित सुवर्णके किवाड़े। जरकशीके परदे जिनमें मणि, मुक्ता आदि गुँथे हुए हैं। **सुघटित**=सुन्दर रीतिसे गढ़े, रचे वा बनाये हुए।

अर्थ—स्वच्छ उज्ज्वल महलोंमें मणिजटित स्वर्णके किवाड़े लगे एवं मणिमुक्ता गुँथे हुए जरकशीके परदे पड़े हैं जो अनेक प्रकारसे सुन्दर रीतिसे बने हुए हैं। (साक्षात्) श्रीसीताजीके निवासवाले सुन्दर महलकी शोभा (भला) कैसे कही जा सकती है?॥ २१३॥

नोट—१ (क) ***'धवल'*** से जनाया कि स्फटिकमणि, हीरे आदिकी श्वेत दीवारें हैं। (ख) ***'मनि पुरट पटु'*** इति। बैजनाथजी और पंजाबीजी 'पट' का अर्थ 'किवाड़े' लिखते हैं। ये खिड़कियों और झरोखोंके किवाड़े हैं। (वै० रा० प्र०) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'मणिजटित सोनेकी खिड़कियोंकी किवाड़ियाँ, अथवा खिड़कियोंके रत्न लगे सुनहले तास आदिके परदे हैं। पाँड़ेजी 'पट' का अर्थ पटली करते हुए लिखते हैं कि 'उज्ज्वल' घर है। उसपर सोनेकी पटली नाना भाँतिके मणियोंसे सुन्दर जड़ी हुई लगी है। और पण्डित रामकुमारजी पूर्वार्धका यह अर्थ लिखते हैं। 'उज्ज्वल स्थान है। मणि, स्वर्ण और वस्त्रोंसे नाना भाँतिसे सुघटित है। अर्थात् सोनेके मकान मणि और मुक्तासे जटित हैं, परदे पड़े हैं, इसीसे धाम धवल है।' आगे ***'सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा'*** में 'कपाट' की चर्चा है, इसीसे 'पट' का अर्थ किवाड़ा लेनेमें अड़चनें पड़ती हैं। (ग) बाबा हरिदासजी ***'सुघटित'*** का अर्थ 'मङ्गलमय अर्थात् सूर्यवेधी आदि दोषोंसे रहित' लिखते हैं।

टिप्पणी—१ ***'सोभा किमि कहि जाति'*** इति। 'जनक महाराजके स्थानकी शोभा बहुत बढ़ाकर कह चुके, अब उस अत्युक्तिकी सँभाल करते हैं' (अर्थात् बताते हैं कि इसमें अत्युक्ति नहीं है; यह कथन यथार्थ है)—***'सिय निवास ...... जाति'*** अर्थात् इसमें श्रीसीताजीका निवास है, तब इसकी शोभा कौन कह सकनेको समर्थ है? इसी प्रकारका वर्णन आगे भी है। यथा—***'बसइ नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। तेहि पुरकी सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥'*** (२८९) और इसी प्रकार श्रीदशरथभवनके विषयमें आगे कहा है, यथा—***'सोभा दसरथ भवन कै को कबि बरनै पार। जहाँ सकल सुर सीसमनि राम लीन्ह अवतार॥'*** (२९७)॥

नोट—२ पहले चारों ओरकी पुष्पवाटिका बाग-वन आदिकी अत्यन्त शोभा कही। फिर पुरकी रमणीयता कही, जिसे देखकर श्रीराम-लक्ष्मणजी हर्षित हुए। फिर उससे विशेष श्रीजनक महाराजके निवास-स्थानको ***'अति अनूप'*** कहा। श्रीसीताजीके निवासके महलकी शोभा कहनेमें अपनेको असमर्थ जनाया। (इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर एकसे दूसरेकी शोभा अधिक दिखायी।) (रा० प्र०) इसके अनुसार श्रीसीताजीका महल अलग है। श्रीकरुणासिंधुजी तथा बैजनाथजीका मत है कि श्रीसीताजीके निवासका मन्दिर राजमन्दिरसे मिला हुआ अलग है। परंतु कुछ लोगोंका मत है कि यहाँ राजमहल (रनवास) की समष्टि शोभाका वर्णन है। श्रीसीताजीकी अवस्था अभी छः वर्षकी है, वे भी राजमहलमें अपनी माताके साथ रहती हैं। बिलग भवन करनेमें माता-पिताके वात्सल्यमें बाधा पड़ती है, त्रुटि आती है और यह लोक-विरुद्ध भी

है। अतः रनवाससे पृथक् इनका भवन नहीं हो सकता। कहा जाता है कि बाणासुरकी कन्या ऊषाको छोड़ किसी अन्य राजकन्याका पृथक् सदन होनेका उल्लेख नहीं मिलता।

सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा॥ १॥
बनी बिसाल बाजि गज साला। हय गय रथ संकुल सब काला॥ २॥

शब्दार्थ—**कुलिस** (कुलिश)=वज्र; हीरा। **कपाट**=किवाड़े। नट—टि० १ (घ) में देखिये। **बिसाल** (विशाल)= लम्बा, चौड़ा और ऊँचा। **साला** (शाला)=रहनेके स्थान वा घर। **संकुल**=परिपूर्ण; इतने कि कठिनतासे अट सकें।

अर्थ—सब दरवाजे सुन्दर हैं, सबमें वज्र (हीरे) के* किवाड़े लगे हैं। (द्वारपर) राजाओं, नटों, मागधों और भाटोंकी भीड़ लगी रहती है॥ १॥ घोड़े और हाथियोंके रहनेकी बड़ी विशाल शालाएँ अर्थात् वाजिशालाएँ (घुड़शाल) और गजशालाएँ बनी हैं जो सभी समय हाथी, घोड़ों और रथोंसे भरी रहती हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा।......'* इति। (क) धामकी शोभा कहकर अब धामके दरवाजोंकी शोभा कहते हैं [पं० रामकुमारजीने दोहेमें 'पट' का अर्थ वस्त्र किया है, इसीसे उसी धामका दरवाजा और किवाड़ा अब यहाँ कहते हैं और जो लोग 'पट' का अर्थ किवाड़े करते हैं उनके मतानुसार अब यहाँ राजद्वारका वर्णन है। यह कोटका वह द्वार है जहाँसे लोग राजमहलमें प्रवेश करते हैं।] (ख) सुभग अर्थात् अपने स्वरूपसे सुन्दर हैं। (ग)*'भूप भीर नट मागध भाटा'*— यह द्वारकी दूसरी शोभा कही। राजाओं और याचकोंकी भीड़ लगी रहती है। यह राजद्वारकी शोभा है। 'भूपभीर' से जनक महाराजका ऐश्वर्य दिखाया कि सप्तद्वीपके राजा मिथिलेश महाराजके दर्शनों और भेंट देनेके निमित्त द्वारपर खड़े हैं। यथा—*'पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा॥'* एवं *'पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनिमुकुट मिलित पद पीठा॥'* (२। ९८) नट-मागधादि याचकोंकी भीड़से जनकजीकी उदारता दिखायी। तात्पर्य कि राजा ऐश्वर्यवान् और उदार हैं। [(घ) *'नट'* —'पुराणानुसार एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति मालाकार पिता और शूद्रा मातासे मानी जाती है। वा, प्राचीन कालकी एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति शौंचिकी स्त्री और शौंडिक पुरुषसे मानी गयी है, जिसका काम गाना-बजाना बतलाया गया है।' (श० सा०)।=कत्थक आदि। बाँस आदिपर खेल-तमाशा करनेवाले। *'भूप भीर नट मागध भाटा'* का दूसरा भाव कि राजाओंकी भीड़ नट आदि याचकोंकी तरह लगी रहती है। (रा० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'बनी बिसाल बाजि गज साला।......'* इति। (क) *'बिसाल'* अर्थात् बड़े ऊँचे, लम्बे-चौड़े जिसमें पर्वताकार हाथी बँधे हैं। 'विशाल' कहकर *'संकुल सब काला'* कहनेका भाव यह है कि गजशाला, हयशाला बहुत बड़ी बनी हैं, तब भी गँजी रहती हैं। हाथी-घोड़ोंकी बहुतायत दिखाते हैं कि इतने हैं कि अटते नहीं। पुनः, (ख) *'बनी'* से वाजि-गज-शालाओंकी सुन्दरता कही। विशालसे जनाया कि हाथी-घोड़े बड़े-बड़े हैं, इसीसे शालाएँ ऊँची हैं। हाथी-घोड़े बहुत हैं, इसीसे शालाएँ लम्बी हैं। और कई पंक्तियोंमें सब बँधे हुए हैं, इसीसे शालाएँ चौड़ी हैं। विशाल शब्दसे ऊँचे, लम्बे और चौड़े तीनोंका बोध कराया। (ग) *'हय गय रथ संकुल सब काला'* इति। यहाँ हाथी, घोड़े और रथ कहे, आगे चौपाईमें पैदल भी कहते हैं, यथा—*'सूर सचिव सेनप बहुतेरे।'* जब सेनापति बहुत हैं तो पैदल सेना भी बहुत होगी। इस तरह चतुरंगिणी सेनाका होना सूचित किया। [हाथी-घोड़ोंके लिये तो वाजि-गज-शालाओंका होना कहा, पर उत्तरार्द्धमें *'हय गय'* के साथ *'रथ'* को लिखनेका क्या प्रयोजन? इस प्रश्नका एक उत्तर तो आ गया कि चतुरंगिणी सेना दिखानेके विचारसे *'रथ'* को लिखा। दूसरे इससे यह भी जनाया कि इनमें रथमें भी जुतनेवाले घोड़े-हाथी हैं, वे रथ भी इन्हीं शालाओंमें रहते हैं। चतुरंगिणी सेनाका विवरण दोहा १५४ (३) भाग २ में देखिये।]

---

* पंजाबीजी 'वज्रके समान दृढ़ किवाड़े' ऐसा अर्थ करते हैं।

वि० त्रि०—*'संकुल सब काला'*—भाव कि व्यवस्था ऐसी थी कि कभी वे हाथी, घोड़े और रथसे खाली नहीं रहते थे। यदि हाथी-घोड़े-रथ किसी कामपर गये तो भी यथेष्ट संख्यामें रथ, गज, वाजि बचे रहते थे, जिसमें वे शालाएँ भरी मालूम पड़ें। इतना बड़ा संग्रह था कि एक लक्ष घोड़े, दस हजार हाथी और पचीस हजार रथ तो दायजेमें दे दिये गये।

सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥ ३॥
पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा॥ ४॥

शब्दार्थ—सूर (शूर)=वीर योद्धा। सेनप=सेनापति, फौजका नेता। केरे=के।

अर्थ—शूरवीर, मन्त्री और सेनापति बहुत-से हैं। सभीके घर राजसदनके-से हैं॥ ३॥ नगरके बाहर नदी और तालाबोंके समीप (निकट, सामने और आसपास) जहाँ-तहाँ बहुत-से राजा उतरे हुए हैं (पड़ाव डाले हुए हैं)॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सूर सचिव सेनप बहुतेरे……'* इति। (क) अनेक जातिके हाथी, अनेक जातिके घोड़े, अनेक प्रकारके रथ और अनेक प्रकारके वरदीवाले पैदल हैं, इसीसे प्रत्येकके न्यारे-न्यारे सेनापति हैं। प्रत्येक सेनामें बहुत सुभट रहते हैं, इसीसे बहुत शूरवीर हैं। इन्तिजाम, माल, फौज, कोष, न्याय, राष्ट्र इत्यादि अनेक प्रकारके राजकीय कार्य हैं, इसीसे प्रत्येक कार्यके लिये पृथक्-पृथक् मन्त्री हैं, जो अपने-अपने कार्यमें पूरे पण्डित हैं। (ख) *'नृपगृह सरिस सदन सब केरे'* इति। इससे मिथिलेशमहाराजकी नीतिनिपुणता दिखायी। मन्त्री आदिका वेतन इतना भारी है कि वे राजाके समान हो रहे हैं; इसीसे वे लोग राजाका सब काम अपना ही काम समझते हैं। [नोट—राजाके सात अङ्गोंमेंसे मन्त्री प्रधान अङ्ग है। सुग्रीवके पास यही एक अङ्ग रह गया था, सो देखिये कि इसीसे उन्हें फिर राज्य प्राप्त हो गया। *'सूर सचिव सेनप बहुतेरे'* इस चरणमें शब्दोंके रखनेमें शब्दोंकी योजनामें महाकविने बड़ी बुद्धिमानी दिखायी है। आगे-पीछे शब्दोंके प्रयोगमात्रसे बिना कुछ और कहे ही उन्होंने राजाकी नीति-निपुणता यहाँ दिखा दी है। नगरके घरोंका वर्णन हो रहा है। क्रमशः आगे-पीछे जैसे मकान बने हैं वैसा ही लिखा जा रहा है। राजा ऐसे चतुर हैं कि उन्होंने मन्त्रियोंकी रक्षाके लिये उनके महल 'सूर' और 'सेनापति' के बीचमें बनवाये हैं। अतएव यहाँ भी सूर और सेनपके बीचमें सचिवको लिखा गया। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि इससे राजाकी उदारता और भृत्योंपर प्रीति प्रकट हो रही है। पंजाबीजी लिखते हैं कि *'बनी बिसाल बाजि गजसाला……।'* से राजाकी अति समृद्धता, *'सूर सचिव……केरे'* से राजाकी उदारता और अति सुहृदता तथा *'पुर बाहेर……'* से स्वयंवरका स्वरूप दिखाया।]

टिप्पणी—२ *'पुर बाहेर सर सरित समीपा।……'* इति (क) ☞*'पुररम्यता राम जब देखी।'* (२१२। ५) से *'फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास।'* (२१२) तक श्रीरामजीका नगरके बाहरकी रमणीयताका देखना वर्णन किया गया था। उसके बाद *'नृप गृह सरिस सदन सब केरे।'* तक बीचमें कवि पुरका वर्णन करने लगे, अब पुनः वहींसे कहते हैं। (ख) प्रथम कह आये हैं कि *'बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥'* इनमेंसे बावली और कुओंसे राजाओंके दलका निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि उनके साथ हाथी, घोड़े, ऊँट, खच्चर, बैल इत्यादि होते हैं। वे कुएँ और बावलीमें जल कैसे पियेंगे? इसीसे *'बापी कूप समीप'* ठहरना नहीं लिखते। उतरे=टिके, ठहरे, डेरा या छावनी डाली। ☞(ग) *'उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा'* इति। जहँ-तहँसे जनाया कि सब राजा पृथक्-पृथक् ठहरे हैं। *'बिपुल महीपा'* अर्थात् द्वीप-द्वीपके, देश-देशके, लोक-लोकके राजा आये हुए हैं; यथा—*'दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥'* (२५१) एवं *'छोनीमेंके छोनीपति छाजै जिन्है छत्र छाया छोनी-छोनी छाए छिति आए निमिराजके।'* (कवितावली १। ८) इस समय स्वयंवर सुनकर सब राजा आये हैं

☞ जनकपुर श्रीजानकीजीकी जन्मभूमि है और अयोध्या श्रीरामजीकी। इसीसे गोसाईंजीने दोनों पुरोंकी शोभा एक-सी वर्णन की है। यथा—

श्रीजनकपुर	श्रीअयोध्याजी
पुररम्यता राम जब देखी। हरषे नगर बिलोकि बिसेषी॥	*१ पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥*
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥	*२ बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं। सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं।* (७। २९)
गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥	*३ बरन बरन बिकसे बनजाता। बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।* (७। २९)
त्रिबिध समीर सदा सुखदाता।	*४ मारुत त्रिबिध बह सुंदर।* (७। २८)
सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंगनिवास। फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास॥	*५ 'सुमन बाटिका सबहि लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥ लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंतकी नाई॥' 'आराम रम्य पिकादि खगरव जनु पथिक हंकारहीं।'* (७। २९) *'सुंदर उपबन देखन गए। सब तरु कुसुमित पल्लव नए'* (७। ३२)
बनै न बरनत नगर निकाई	*६ पुर सोभा कछु बरनि न जाई।'* (७। २९)
चारु बजार बिचित्र अँबारी मनिमय जनु बिधि स्वकर सँवारी॥	*७ 'बाजार रुचिर न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।'* (७। २८) *'मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची।'* (७। २७)
धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना॥	*८ बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।* (७। २८)
चौहट सुंदर गली सुहाई।	*९ बीथीं चौहट रुचिर बजारू।* (७। २८)
संतत रहहिं सुगंध सिंचाई।	*१० गली सकल अरगजा सिंचाई।*
मंगलमय मंदिर सब केरे।	*११ मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ।* (१। २९६)
चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे।	*१२ चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ।*
पुरनरनारि सुभग सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवंता॥	*१३ 'रामभगतिरत नर अरु नारी। सकल परम गतिके अधिकारी॥' अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥''''सब निर्दंभ धरमरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥ सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥'* (७। २१)
अति अनूप जहँ जनकनिवासू। बिथकहिं बिबुध बिलोकि बिलासू॥	*१४ भूपभवन तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदन मन मोहा॥*
होत चकित चित कोट बिलोकी।	*१५ पुर चहुँ पास कोटि अति सुंदर।* (७। २७)
धवल धाम मनि पुरट पट सुघटित नाना भाँति।	*१६ धवल धाम ऊपर नभ चुंबत।* (७। २७)
सियनिवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाति॥	*१७ मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनकमनि मरकत खची।* (७। २७)
	१८ सोभा दसरथ भवन कइ को कबि बरनै पार। जहाँ सकल सुरसीसमनि राम लीन्ह अवतार॥ (७। २९७)
सुभगद्वार सब कुलिस कपाटा।	*१९ प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्ह खचे।*
भूपभीर नट मागध भाटा॥	*२० मागध सूत बंदि नट नागर। गावहिं जसु तिहुँलोक उजागर।' 'नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे।'* (२। २)
बनी बिसाल बाजि गजसाला। हय गय रथ संकुल सब काला॥	*२१ 'रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे॥ रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाये। ध्वज पताक मनिभूषन लाए॥*

कलित करिबरन्ह परी अँबारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी॥'

सूर सचिव सेनप बहुतेरे।
नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥

२२ *'अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज। सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज।'* (७। २६)

प० प० प्र०—'जनकपुरी और दशरथपुरीकी तुलना' इति। (क) धनुर्भंगोत्सवके लिये सजायी हुई जनकपुरीको देखकर सानुज रघुनाथजीको हर्ष हुआ। और उधर सुशोभित जनकपुरीके दूत जब राम-विरहाकुल (क्योंकि दोनों भाई विश्वामित्रजीके साथ गये हैं) दशरथपुरीमें आये तब *'हरषे नगर बिलोकि सुहावन।'* (२९०। १) (ख) जनकपुरीके भवनोंको मङ्गलमय बनानेके लिये मानो रतिनाथ चितेरेको हाजिर होना पड़ा, पर दशरथपुरीमें *'मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ॥'* (१। २९६) (ग) 'जनकपुरीमें धनुर्भंगोत्सव-कालमें भी *'बीथी सींची चतुर सम चौकें चारु पुराइ।'* (१। २९६) यह नहीं हुआ। (घ) श्रीजनकनिवासको देखकर इन्द्रादि देवता विशेष थकित होते हैं, पर *'भूपभवन किमि जाइ बखाना। बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना॥'* (१। २९७। ४) *'भूप भवन तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदन मन मोहा॥'* (१। ३४५। १) जो कामदेव ब्रह्मादि समस्त देवोंको भी मोहित करता है वह भी दशरथपुरी अयोध्याकी शोभा आदि देखकर मोहित हो गया। जनकनिवासका कुछ वर्णन तो कविने किया ही, उसे *'अति अनूप'* कहा, पर दशरथजीका भवन *'किमि जाइ बखाना।'* (ङ) अयोध्याजीमें जैसे घोड़े हैं कि जलपर थलके समान चलते हैं और *'टाप न बूड़ बेग अधिकाई'*, *'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने।'* वैसे जनकपुरमें नहीं हैं।—इसी प्रकार अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं, जिनसे दशरथपुरी सभी बातोंमें जनकपुरीसे श्रेष्ठ सिद्ध होती है। उपर्युक्त तुलनामें उत्तरकाण्डके वाक्य नहीं लिये गये हैं। उनको तुलनामें लेना उचित नहीं है, क्योंकि वह तो रामराज्यकी पुरी अयोध्या है।

देखि अनूप एक अँबराई। सब सुपास सब भाँति सुहाई॥५॥
कौसिक कहेउ मोर मनु माना। इहाँ रहिअ रघुबीर सुजाना॥६॥
भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनिबृंद समेता॥७॥

शब्दार्थ—**सुपास**=सुविधा, सुभीता। **मन मानना**=रुचना, मनको अच्छा लगना; पसंद होना। यथा—*'ज्ञान नयन निरखत मन माना।'* (३७। १) *'मनु माना कछु तुम्हहिं निहारी।'* (३। १७। १०)

अर्थ—एक अनुपम आमका बाग देखकर, जहाँ सब तरहकी सुख-सुविधा थी और जो सब प्रकार सुन्दर था, श्रीविश्वामित्रजीने कहा—हे सुजान रघुवीर! मेरे मनको यह (बाग) रुचता है, (अतएव) यहीं ठहरिये॥ ५-६॥ 'हे नाथ! बहुत अच्छा।' ऐसा कहकर कृपाके धाम श्रीरघुनाथजी मुनिसमाजसहित वहाँ उतरे॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'देखि अनूप एक अँबराई।......'* इति। (क) *'सब सुपास'* अर्थात् जल, थल, फल, फूल, छाया इत्यादिका सुख, *'अति शीत अति उष्णतारहित'* स्नान-पूजन-भजन-एकान्त इत्यादिका सुख वा ऋषियोंको सात्त्विक पदार्थोंका और राजकुमारोंको राजसी सुख। [*'सब सुपास'* अर्थात् सुन्दर मन्दिर है, शीतल मिष्ट जल है, सुन्दर छाया है, मनोहर पुष्प हैं, फुहारे छूट रहे हैं। *'सब भाँति सुहाई'* अर्थात् चारों ओर बड़ी हरियाली है, निकट कोई मार्ग नहीं है, इससे धूलसे सुरक्षित है। किसीका डेरा निकट नहीं है, इससे ऊँचे शब्दसे और मलिनतासे रहित है। नगरसे न तो अत्यन्त निकट है और न अत्यन्त दूर है—ऐसा सुन्दर यह रसाल-बाग है। (पं०) रा० प्र० कार लिखते हैं कि पतझाड़के ऋतुमें अन्य वृक्षोंमें छाया नहीं रहती परंतु अमराईमें तब भी छाया रहती है।] (ख) *'सब भाँति......'* अर्थात् जलाशय, मकान, वृक्ष, लता, स्वच्छता, बनाव इत्यादि सब प्रकार सुन्दर है। इसीसे *'अनूप'* कहा। *'अनूप'* स्थानमें टिकनेका भाव यह है कि श्रीरामजी समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, इसीसे विश्वामित्रजी सबसे श्रेष्ठ स्थानमें टिके। इसी तरह राजा जनकने इनको सबमें श्रेष्ठ समझकर सबसे उत्तम मंचपर बिठाया था, यथा—*'सब मंचन्ह तें मंच इक सुंदर बिसद बिसाल। मुनि समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल॥'*

टिप्पणी—२ (क) *'कौसिक कहेउ मोर मनु माना'* इति। पहले यह कहकर कि अमराई अनूप है, सब भाँति सुन्दर है, अब उसी बातको चरितार्थ करते हैं कि जिन विश्वामित्रजीको सृष्टि रचनेका सामर्थ्य है वे भी इसे देखकर प्रसन्न हो गये, अतएव यह निश्चय ही अत्यन्त सुन्दर है।* [यहाँ वंशका और क्षत्रिय राजाका सम्बन्ध-सूचक नाम दिया, क्योंकि यहाँ ठहरनेका जो विचार किया गया वह राजनीतिदृष्टिसे ही, न कि मुनिकी दृष्टिसे। (प० प० प्र०)] (ख) *'इहाँ रहिअ रघुबीर सुजाना'* इति। *'इहाँ'* दीपदेहली है। *'मोर मनु माना इहाँ'* और *'इहाँ रहिअ।' 'मोर मनु माना'* कहकर जनाया कि हमको पसंद है। और *'रघुबीर'* सम्बोधन करके टिकनेको कहकर जनाया कि रघुवंशियोंके भी टिकने योग्य है। मुनि और राजा दोनोंके योग्य है। पुनः,*'रघुबीर'* का भाव कि आप वीर हैं, वीरोंका वास पृथक् चाहिये, यथा—*'कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाए। जनु भट बिलग बिलग होइ छाए॥'* (३। ३८) (ग) *'सुजाना'* का भाव कि आप सब जानते हैं कि यहाँ रहनेसे सब प्रकारका सुपास होगा। यहाँ रहनेसे आपकी प्रतिष्ठा होगी। हम अकेले होते तो सीधे राजद्वार या महलमें चाहे चले भी जाते; पर हमारे साथ आप दोनों चक्रवर्ती राजकुमार हैं, आपकी मर्यादा-प्रतिष्ठा भी रखनी उचित ही है। जबतक राजा स्वयं मिलने न आवें और सम्मानपूर्वक महलमें न ले जावें तबतक नगरके भीतर ठहरना उचित नहीं। जब आकर सादर ले चलेंगे तब चलेंगे। (पुनः, भाव कि आप जानते हैं कि जब-जब आपका अवतार होता है, तब-तब पहले बाहर अमराईहीमें उतरना हुआ है।) ☞यहाँ लोगोंके इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया कि 'मुनि राजा दशरथके यहाँ कैसे सीधे राजद्वारपर चले गये थे, बीचमें न ठहरे थे?' दूसरा उत्तर इसका यह भी है कि वहाँ याचक बनकर गये थे, भिक्षुकको अभिमान कैसा? और यहाँ निमन्त्रित होकर आये हैं। (रा० प्र०) इस भावकी पुष्टता *'उतरे तहँ·····'* से होती है, क्योंकि इन शब्दोंमें प्रधानता विश्वामित्रजीकी नहीं रखी गयी है, वरंच श्रीरघुनाथजीकी। (रा० प्र०)

टिप्पणी—३ *'भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता।·····'* इति। (क) गुरुने आज्ञा दी कि *'इहाँ रहिअ'*। श्रीरामजीने *'भलेहि नाथ'* कहकर आज्ञाको शिरोधार्य किया और *'भलेहि'* कहकर यह भी जनाया कि यह स्थान हमारे मनका भी है। [पुनः भाव कि आप स्वामी हैं, जैसी आपकी इच्छा। आप हमारे वंशकी बड़ाई-मान्यता रखना चाहते हैं, यह आपकी कृपा है। श्रीरघुवीरने जो सम्मति दी वह इस हेतुसे कि ये हमारे गुरु और (पिता-नातेसे) स्वामी हैं, इनका यथोचित मान-सम्मान होना आवश्यक है। बिना बुलाये राजद्वारपर जाना महामुनि गुरुजीके लिये उचित नहीं। (प० प० प्र०)] (ख) *'कृपानिकेता'* कहा, क्योंकि मुनियोंपर कृपा करके यहाँ ठहरे हैं। मुनि सब थके-प्यासे होंगे, तथा यहाँ उनको सब प्रकारका सुपास होगा, यहाँ विश्राम पावेंगे। यथा—*'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर। जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर॥'* (५। ३५) (वहाँ वानरोंपर कृपा करके उतरे थे, इससे *'कृपानिधि'* कहा था), पुनः, *'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला॥'* [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'मुनिको बड़ाई देनेके लिये उन्हें *'नाथ'* सम्बोधन देकर उनकी आज्ञाको प्रमाण किया। अतएव *'कृपानिकेता'* कहा।']

श्रीराजारामशरणजी—इस वर्णनमें उपन्यास-कलाका पूर्णतः विकास है। मियर महोदयने नाटक और उपन्यास-कलाओंके गुण-दोषोंका निरीक्षण करके यह प्रश्न इस शताब्दीके प्रारम्भमें ही उठाया था कि भविष्य काव्यकलाका रूप क्या होगा? वे नाटकके ढाँचेको बहुत संकुचित समझते थे और उपन्यासोंकी भरमारसे ऊब गये थे। महाकाव्यकला विज्ञानके ठोकरसे उन्नीसवीं शताब्दीहीमें चुप हो गयी थी। बर्नार्ड शा

---

* बैजनाथजी कहते हैं कि यह अमराई 'कौशिकी' नदीके तटपर थी, अतः 'मोर मनु माना' कहा। इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया कि 'मुनि राजा दशरथके यहाँ कैसे सीधे राजद्वारपर चले गये थे, बीचमें न ठहरे थे?' दूसरा उत्तर इसका यह भी है कि वहाँ याचक बनकर गये थे, भिक्षुकको अभिमान कैसा? और यहाँ निमन्त्रित होकर आये हैं। (रा० प्र०)। इस भावकी पुष्टि 'उतरे तहँ' से होती है, क्योंकि इन शब्दोंमें प्रधानता विश्वामित्रजीकी नहीं रक्खी गयी है वरंच श्रीरघुनाथजीकी। (रा० प्र०)।

(Bernardshaw) ने अपने नाटकोंमें कुछ उद्योग इन कलाओंके मिश्रण और नैतिक, वैज्ञानिक इत्यादि रहस्योंके प्रकटीकरणका किया है, मगर उनकी आलोचनाएँ और प्रस्तावनाएँ गद्यात्मक और मस्तिष्कीय उधेड़-बुनके कारण शुष्क हैं। तुलसीका कमाल है कि सब चीजें मौजूद हैं फिर भी भावों-रसोंसे ओतप्रोत हैं। इसीसे तो मैं तुलसीदासको विश्वकवि कहता हूँ।

अब नाटकीय कलाकी ओर विकास प्रारम्भ होता है। याद रहे कि हमारा कवि केवल वार्ताएँ नहीं लिखता बल्कि सारी प्रगतियों इत्यादिका भी वर्णन कर देता है, जिससे नाटकीय अभिनेता और फिल्मकलाकारोंको बड़ी सहायता मिलती है और पढ़नेवालेके सामने तो जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाता है।

विश्वामित्र, महामुनि आए। समाचार मिथिलापति पाए॥ ८॥

दो०—संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुर ग्याति।
चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ येहि भाँति॥ २१४॥

शब्दार्थ—**ग्याति** (ज्ञाति)=एक ही गोत्र वा वंशके लोग; गोतिया; भाई-बन्धु।

अर्थ—महामुनि विश्वामित्रजी आये हैं (यह) समाचार (सूचना, खबर) मिथिलाके राजा श्रीजनकजीको मिला॥ ८॥ पवित्र निष्कपट मन्त्रियों, निश्छल सच्चे बहुत-से योद्धाओं, श्रेष्ठ (वेदपाठी) ब्राह्मणों, गुरु श्रीशतानन्दजी और अपने जातिके (श्रेष्ठ वा वृद्ध) लोगों-कुटुम्बियोंको साथमें लेकर और प्रसन्न होकर, इस प्रकार राजा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीसे मिलनेको चले॥ २१४॥

टिप्पणी—१ (क) ***'महामुनि'*** अर्थात् भारी मुनि हैं—[२०६ (२) देखिये] इसीसे भारी तैयारीके साथ मिलने जाना चाहिये; अतः भारी तैयारी की, जैसा आगे कहते हैं। (ख) ***'समाचार पाए'***; किससे? अमराईके बागवानोंसे, क्योंकि मुनि वहीं आकर टिके हैं*। (ग) ***'मिथिलापति पाए'*** का भाव कि जो कुछ समाचार मिथिलापुरीमें होता है वह सब राजाको प्राप्त होता है। दूत और सेवक लगे हुए हैं जो क्षण-क्षणकी खबर देते हैं। [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'विदेहजीकी यथार्थ दृष्टिमें सेवक-स्वामीभाव नहीं है, परंतु व्यावहारिक दृष्टिमें मिथिलापुरीके पति हैं और महामुनि इनके पुरमें आये हैं। अतएव सेवक बनकर उनके दर्शनको गये। करुणासिंधुजी लिखते हैं कि वसिष्ठजीके शापसे जब निमिका 'शरीर-पतन' हुआ और ऋषियोंने उनके शरीरको मथ करके पुत्र उत्पन्न किया तबसे इस वंशके सभी राजाओंको तीन उपाधियाँ मिलीं, एक तो 'मिथिलेश' क्योंकि प्रथम पूर्वज मथनसे उत्पन्न हुए। दूसरी, 'जनक' क्योंकि केवल पितासे हुए और तीसरी 'विदेह', क्योंकि इनकी उत्पत्ति मैथुनसे नहीं हुई। मुनियोंके आशीर्वादसे यह वंश योगी, ज्ञानी और भक्त रहा है।]

नोट—१ राजा निमिके कोई पुत्र न था। इसलिये ऋषियोंने उनके शरीरको मथा जिससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके 'जनन' होनेसे 'जनक' विदेहके लड़का होनेसे वैदेह और मन्थनसे पैदा होनेसे 'मिथि' ये तीन नाम प्रसिद्ध हुए। '**जननाज्जनकसंज्ञां चावाप। २२।** '**अभूद्विदेहोऽस्य पितेति वैदेहः, मथनान्मिथिरिति॥** २३।' (वि० पु० अंश ४ अ० ५)। इस वंशके सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आये हैं।

नोट—१ मिथिलाप्रदेश जिसे आजकल तिरहुत कहते हैं, उसके अन्तर्गत आजकल बिहारप्रान्तके दो जिले मुजफ्फरपुर और दरभंगा हैं। 'जनकपुर' प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ इसकी राजधानी थी, जो वर्तमानकालमें नेपालराज्यके अन्तर्गत है। यह सीतामढ़ीसे लगभग छः-सात कोशपर है। राजा जनकका नाम 'शीरध्वज' और उनके छोटे भाईका 'कुशध्वज' था। (प्र० सं०)

नोट—२ 'महामुनिकी जोड़में इधर ***'मिथिलापति'*** पद दिया। बड़े महात्माओंके मिलने और दर्शनोंको राजाधिराजका जाना योग्य ही है। ***'महामुनि'*** से लोकोंसे परे विभूतिका ऐश्वर्य जनाया और ***'मिथिलापति'***

* बैजनाथजीका मत है कि नगरके बीचमेंसे होकर अमराईमें गये हैं, इससे बहुत लोगोंने पहचान लिया था, उन्हीं लोगोंने राजाको समाचार दिया।

से लोक-विभूति सूचित की; अतएव मिथिलापतिको महामुनिसे मिलनेपर लोक-ऐश्वर्य और ज्ञान-विभूतिका, राजकुमारोंके दर्शनमें लय होना सूचित करेंगे—*'बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा', 'भयउ बिदेहु बिदेह बिसेषी।'* (प्र० सं०)

टिप्पणी—२ *'संग सचिव सुचि……'* इति। (क) साथमें निष्कपट मन्त्री, बहुत-से योद्धा, ब्राह्मण, गुरु और बन्धुवर्गके गुरुजनोंको लेकर जाना साभिप्राय है। [राजा जनकने स्वयंवर रचा है; उसमें धनुष-भङ्गकी प्रतिज्ञा है। सत्योपाख्यान अ० ५१, ५२ से विदित होता है कि धनुष-भङ्गकी प्रतिज्ञाके कारण काशिराज सुधन्वा और रावण आदि कई राजा जनकके शत्रु हो गये थे और सुधन्वासे तो एक सालतक बराबर युद्ध हुआ। (वाल्मी० १। ७१ में संकाश्य नगरीके राजा सुधन्वासे एक वर्ष युद्ध होना कहा है।) न जाने किस समय क्या काम पड़ जाय। अतएव मन्त्र (सलाह) लेनेके लिये निश्छल मन्त्रियोंको, दुष्ट राजाओंसे अपनी रक्षाके निमित्त शुचि-सुभट, और वह भी बहुत-से साथ लिये।] नगरके बाहर बहुत-से राजा आ-आकर जुटे (एकत्रित हुए) हैं; अतः *'भूरि भट'* सङ्ग लिये। जहाँ जैसा प्रयोजन पड़े वहाँ वैसा कहें, इस विचारसे मन्त्रियोंको साथ लिया। विश्वामित्र गुरु हैं, इसीसे गुरु शतानन्दजीको साथ लिया। बड़ोंसे सकुटुम्ब मिलना चाहिये इससे कुटुम्ब साथ है। (विश्वामित्रजी ऋषि हैं, वैसे ही श्रीशतानन्दजी भी गौतम ऋषिके पुत्र हैं। मुनिके साथ विप्रमण्डली है, इसीसे *'भूसुर'* ब्राह्मणोंको साथ लिया। मुनिके साथ राजकुमार हैं, अतः यहाँ बन्धुवर्ग हैं, वस्तुतः मुनिके सम्मानार्थ गुरुब्राह्मण आदिको साथ लेकर दर्शनको गये।) (ख) *'मुदित राउ'* —राजा उनका आगमन सुन बड़े प्रसन्न हुए अर्थात् उनके आगमनको अपने बड़े भाग्यका उदय माना। यथा—*'बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे॥'*

नोट—३ राजा दशरथ जब विश्वामित्रजीसे मिलने गये तब केवल ब्राह्मणसमाज लेकर गये, यथा-*'मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गएउ लै बिप्रसमाजा॥'* कारण कि वहाँ राजा निर्भय हैं, उनका कोई शत्रु नहीं है; अतः मन्त्री और सुभटका काम न था। पर गुरुको साथ क्यों न लिया? इसका उत्तर यह है कि वसिष्ठजी विश्वामित्रजीसे बड़े हैं, वे विश्वामित्रजीकी पेशवाई (अगवानी) में नहीं जा सकते। वसिष्ठजीके देनेसे विश्वामित्रजीको ब्रह्मर्षिकी पदवी मिली है। जबतक उन्होंने इनको ब्रह्मर्षि नहीं कहा तबतक ये ब्रह्माके कह देनेपर भी अपनेको ब्रह्मर्षि नहीं मान पाये थे। अथवा श्रीरामजीके सम्मानार्थ राजा जनक सुभट, मन्त्री और निमिवंशी यह राजसी समाज लेकर गये और विश्वामित्रजी ब्राह्मण हैं, अतः उनके सम्मानार्थ ब्राह्मण और गुरुको साथ लिया। राजा दशरथजी विप्रसमाज साथ ले गये थे, उन्हींमें वसिष्ठजीको समझ लें, क्योंकि वाल्मीकीयमें वसिष्ठजीका भी साथ जाना लिखा है; यथा—**'तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः॥ ४२॥'''''वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुङ्गवः॥ ४७॥'** अर्थात् राजा द्वारपालोंकी बात सुनकर पुरोहितके साथ प्रसन्नतापूर्वक चले।''''मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने वसिष्ठजीके पास जाकर उनकी कुशल पूछी। (वाल्मी० १। १८)

कीन्ह प्रनामु चरन धरि माथा। दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा॥ १॥
बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे॥ २॥
कुशल प्रश्न कहि बारहिं बारा। बिश्वामित्र नृपहि बैठारा॥ ३॥

शब्दार्थ—**कुशल प्रश्न**=कुशल-मङ्गल (खैरो-आफियत) पूछना। **कुशल**=क्षेम, राजीखुशी।

अर्थ—(उन्होंने) चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम किया। मुनिराज विश्वामित्रजीने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया॥ १॥ (मुनिके साथके) सब ब्राह्मणसमाजको राजाने आदरसहित प्रणाम किया और अपना बड़ा भाग्य समझकर प्रसन्न हुए॥ २॥ बारंबार कुशलप्रश्न करके विश्वामित्रजीने राजाको बिठाया॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'कीन्ह प्रनामु चरन धरि माथा।……'* इति। (क) चरणोंपर सिर धरकर प्रणाम करना अत्यन्त आदर है, अत्यन्त भक्ति है, (यही आगे कहते हैं—*'बिप्रबृंद सब सादर बंदे'* वहाँ भी *'सादर'* से यही समझ लेना चाहिये)। यथा—*'गुर आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नाएउ माथा॥'* (२। ८) *'संबत सोरह सै एकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥'* इत्यादि। अत्यन्त नम्रतासे प्रणाम किया, इसीसे मुनि प्रसन्न

हुए और *'दीन्हि असीस मुदित।'* [पुनः भाव कि जिसकी दृष्टिमें जगत्‌की सत्ता ही नहीं, उसने चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणामकर ऋषियोंका मान किया यह देखकर मुदित हुए। अथवा यह सोचकर कि इनके मनोरथके पूर्ण करनेवालोंको हम साथ लाये हैं, प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया। (पं०)] (ख) ☞चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम करनेकी विधि है, यह मनुस्मृतिमें लिखा है। इसीसे श्रीरामजीने परशुरामजीसे कहा कि *'हमहि तुम्हहि सरबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥'* (२८२। ५) (ग) *'मुदित मुनिनाथा'* इति। राजा मुनिसे मिलनेके लिये मुदित हैं, यह दोहेमें कह आये हैं, वैसे ही यहाँ मुनि राजाको मुदित होकर आशीर्वाद दे रहे हैं। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते.....'** के अनुसार। [विश्वामित्रजीको प्रणाम किया, उन्होंने आशीर्वाद दिया, विप्रवृन्दको भी प्रणाम किया। *'सादर'* से वैसा ही प्रणाम यहाँ भी सूचित कर दिया, जिसमें दुबारा उन्हीं शब्दोंको दुहराना न पड़े। तब क्या विप्रवृन्दने आशीर्वाद न दिया? उसका उल्लेख यहाँ नहीं है? इसका उत्तर *'मुनिनाथ'* शब्दसे दे दिया है] मुनिनाथ कहकर जना दिया कि ये सब मुनियोंके स्वामी हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, इससे पहले इन्होंने आशीर्वाद दिया तब औरोंने भी पृथक्-पृथक् आशीर्वाद दिया। यह गोस्वामीजीकी अनूठी शैली है।

टिप्पणी—२ (क) *'बिप्रबृंद सब सादर बंदे'* इति। इससे जनाया कि सबोंकी पृथक्-पृथक् वन्दना की। और *'सादर'* कहकर सूचित किया कि इनको भी विश्वामित्रके समान ही मानकर वैसे ही प्रेमसे प्रणाम किया। (ख) *'जानि भाग्य बड़'*—ब्राह्मणों-महात्माओंकी प्राप्ति बड़े भाग्यकी बात है; इसीसे बड़े लोगोंने सदा इसे बड़ा भाग्य माना है; यथा—*'भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग बड़ि जानी॥'* (३५२। २) इसीसे राजा आनन्दित हुए। (ग) *'सादर'* और *'अनंदे'* शब्दोंसे सूचित करते हैं कि पृथक्-पृथक् हर एकको प्रणाम करनेमें राजाने क्लेश नहीं माना, वरंच इसे अपना बड़ा भाग्य माना। *'अनंदे'* से आशीर्वादकी प्राप्ति भी सूचित होती है।

नोट—१ आशीर्वादके सम्बन्धमें कुछ लोगोंका मत है कि १ 'समाजमें जो मुखिया होता है उसीको यथोचित दण्डप्रणाम किया जाता है, औरोंको केवल हाथ जोड़ना और सिर झुकाना ही काफी है। इसी प्रकार मुखियाके आशीर्वादसे सबका आशीर्वाद समझा जाता है। वैसा ही यहाँ हुआ। वा २—राजा जनक योगेश्वर हैं, बड़े-बड़े महर्षि इनके पास शिक्षाके लिये आते हैं; अतएव विप्रवृन्दने अपनेको आशीर्वाद देने योग्य न समझा। वा ३—उन्होंने भी आशीर्वाद दिया, इसीसे राजा आनन्दित हुए। (☞पृथक्-पृथक् सबकी वन्दना की और सबसे आशीर्वाद प्राप्त किया, यथा—*'बिप्रबृंद बंदे दुहुँ भाई। मन भावती असीसें पाई॥'* यह बात आगेके *'कुशल प्रश्न कहि'* से भी अनुमानित होती है। नहीं तो मुनिनाथका आशीर्वाद देनेके बाद तुरत ही कुशल-प्रश्न करना लिखा जाता। जब सबको प्रणाम कर चुके तब कुशल पूछी।)

टिप्पणी—३ *'कुसल प्रश्न कहि बारहि बारा।.......'* इति। (क) राजाने मुनिका बड़ा आदर किया, वैसे ही मुनिने राजाका बड़ा आदर किया। बारंबार कुशल पूछना और बिठाना आदर है। *'कहि'* पाठसे जनाते हैं कि मुनिने बारंबार कुशल-प्रश्न किया और राजाने बारंबार कुशल कही। [बारंबार कही, यथा—*'हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया'*, *'अब कुशल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो॥'* (७। ५) *'बूझब राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गोसाईं॥'* (२। २७०) श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि 'राजाके सम्मानके लिये कुशल-प्रश्न किया और ज्ञानवान् हैं, इससे अति सम्मान-हेतु बारंबार प्रश्न किया।' मिलान कीजिये (सत्योपाख्यान अ० ५४) '**कुशलं वर्तते राजन् समस्वङ्गेषु तेऽधुना। येषां कुशलतो राजा वर्तते सर्वदा सुखी॥ सर्वत्र कुशलं नाथ त्वयि तिष्ठति रक्षके। येषां कुशलकामोऽसि कुशलं तेषु नित्यशः। त्वं वै कुशलमूर्तिश्च तपसा दुष्करेण वै॥**' इससे यहाँ भाव निकाल सकते हैं कि पृथक्-पृथक् सातों राज्याङ्गोंका कुशल, परिवार, प्रजा आदिका कुशल-प्रश्न किया और वे प्रत्येकका उत्तर देते गये। अतः *'बारहिं बारा'* कहा। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि विश्वामित्रजीने राजासे कुशल और उनके यज्ञकी निर्विघ्नताके सम्बन्धमें पूछा। यथा—'**पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम्।**'(१। ५०। ९) पर मानसके *'बारहिं बारा'* में अधिक

प्रश्न और उत्तर अभिप्रेत हैं।] (ख) *'नृपहि बैठारे'* इति। बिठायासे आसन देना नहीं पाया जाता। राजाके साथ बहुत ब्राह्मण हैं, मुनिके साथ भी बहुत हैं, जब सबके लिये आसन हो तब तो राजाको भी आसन दिया जाय। सबको छोड़कर राजा आसनपर नहीं बैठ सकते (क्योंकि राजा ब्रह्मण्यदेव हैं)। दूसरे कायदा है, शिष्टाचार है कि जो अपनेको सेवक मानता है, वह स्वामीके आगे आसनपर नहीं बैठता। अतएव आसन देना न कहा गया। [वाल्मी० १। ५० में लिखा है कि राजाने विश्वामित्रजीसे प्रार्थना की कि आप सब मुनियोंके साथ आसनपर बैठें और उनके बैठ जानेपर राजा भी सब मन्त्रियों आदिके साथ पृथक्-पृथक् आसनपर बैठे। यथा—'**आसनेषु यथान्यायमुपविष्टाः समन्ततः॥**' (१२)]

नोट—२ महाराज दशरथके प्रणाम करनेपर विश्वामित्रजीने न तो आशीर्वाद दिया न कुशलप्रश्न किया। कारण कि इनसे राम-लक्ष्मणको लेना था। विश्वामित्रजी दाताके साथ सदा कठोरतम व्यवहार करके, उसकी श्रद्धाकी परीक्षा लेते थे, हरिश्चन्द्रके साथ जो उनका व्यवहार हुआ वह जगत् जानता है। अतएव आशीर्वाद देकर न तो उनको निर्भय किया और न कुशलप्रश्न किया। जनकजीको तो कृतार्थ करने आये हैं, अतः आशीर्वाद दिया। बार-बार कुशल पूछते हैं कि कुछ भी संकट हो तो बताओ, हमारे साथ सहाय मौजूद हैं। दूसरे जनकजी मुनियोंके गुरु हैं, इससे इनका विशेष सम्मान है। (वि० त्रि०)

तेहि अवसर आए दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई॥ ४॥
स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्वचित चोरा॥ ५॥
उठे सकल जब रघुपति आए। बिस्वामित्र निकट बैठाए॥ ६॥

शब्दार्थ—**बयस** (वयस्) बीता हुआ जीवनकाल, अवस्था, उम्र। **किसोर वयस**=किशोरावस्था, १६ वर्षके भीतरकी अवस्था।

☞ नाटकीय कलामें चरित्रोंके प्रवेशका अवसर बड़े मर्म और मार्केकी चीज है। श्रीराम-लक्ष्मणके प्रवेशका वर्णन और प्रभाव विचारणीय है। (लमगोड़ाजी)

अर्थ—उसी अवसरपर दोनों भाई आये। वे फुलवारी देखने गये थे॥ ४॥ (एक श्रीरामजी) श्याम, (दूसरे श्रीलक्ष्मणजी) गौर (गोरे) दोनों कोमल शरीर और किशोर अवस्थाके, नेत्रोंको सुखदायक और विश्वमात्रके चित्तको चुरानेवाले हैं॥ ५॥ जब रघुनाथजी आये, सभी उठकर खड़े हो गये। विश्वामित्रजीने उनको अपने पास बिठा लिया॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'तेहि अवसर आए'* का भाव कि ये अवसरके जानकार हैं, (अपनी मर्यादाके अनुसार अवसरपर ही आया करते हैं); यथा—*'कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि। उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि॥'* (२४०) *'राजकुँवर तेहि अवसर आए।'* तथा यहाँ जब सब लोग बैठ गये तब आये। अभी कुछ वार्ता न प्रारम्भ होने पायी थी। वार्ताके बीचमें आनेसे एक तो वार्तामें विघ्न होता, दूसरे उस समय लोगोंका चित्त वार्तामें लगा होनेसे उठनेकी सन्धि, उठकर आदर करनेका मौका फिर न रह जाता। (ख) *'गए रहे देखन फुलवाई'* इति। ऊपरसे तो दिखाया कि फुलवारी अनुपम है, सब भाँति सुन्दर है, अतः उसे देखने गये और भीतरी (गूढ़) अभिप्राय यह है कि राजा जनक आने ही चाहते हैं, यदि यहाँ रहते हैं तो छोटे होनेके कारण उन्हें देखकर हमें उठकर खड़े होना पड़ेगा, क्योंकि बड़ेको अभ्युत्थान देना धर्म है और ऐसा करनेसे चक्रवर्ती कुलकी अप्रतिष्ठा होगी और राजा आदिके आकर बैठ जानेपर यदि हम आवेंगे तो सब हमको देखकर उठेंगे (जैसा आगे स्पष्ट है कि *'उठे सकल जब रघुपति आए'* अर्थात् लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये श्रीरघुनाथजीने ऐसा किया। वे लोक और वेद दोनोंकी मर्यादाके पालक और रक्षक हैं, वे न ऐसा करते तो कौन करता [(अथवा), फुलवारी देखनेके बहाने (मिष, व्याजसे) मुनिने प्रथम ही इनको हटा दिया था। अब सब बैठे हैं। इनके आनेपर सब खड़े होंगे, इससे कुलकी मर्यादा भी बनी रहेगी (प्र० सं०)। बैजनाथजीका मत है कि फुलवारीसे ही श्रीमिथिलेशजीको आते देख आप भी चले आये।] (ग) यह फुलवारी इसी अमराईकी है जिसमें उतरे हैं, इसीसे यहाँ गुरुकी आज्ञाके

माँगनेका उल्लेख नहीं है, क्योंकि यहाँ कहीं बाहर जाना नहीं है। [फुलवारी देखने जानेमें प्रयोजन भी है। प्रभुको गुरु-सेवाका बड़ा ख्याल है, सेवामें ही उनका ध्यान है। प्रात:काल कहाँसे दल-फूल लाना होगा, कौन फुलवारी निकट है, इत्यादि विचारसे वे फुलवारी देखने गये।](प्र० सं०)

टिप्पणी—२ '***स्याम गौर मृदु बयस किसोरा।*......' इति। (क) भगवान्‌के श्यामवर्णमें अत्यन्त सौन्दर्य है, इसीसे जहाँ सुन्दरता कहते हैं वहाँ '***स्याम गौर***' कहकर सुन्दरता कहते हैं। यथा—'***स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥***' '***स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥***' '***सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँददाता॥***' इत्यादि। तथा यहाँ तात्पर्य कि जिसके वर्णमें ऐसी सुन्दरता है उसके अङ्गोंकी और शृङ्गारकी शोभा कौन कह सकता है? भाव कि श्याम-गौर-जोड़ी सौन्दर्यकी अवधि है। ☞ भगवान्‌के सब अङ्गोंमें 'श्याम गौरता' है, सब अङ्गोंमें मृदुता है और सभी अङ्गोंमें किशोरावस्था है। (ख) 'रूप' नेत्रोंका विषय है, इसीसे नेत्रोंको सुखदाता है। (ग) '***लोचन सुखद बिस्वचित चोरा***' अर्थात् नेत्रोंको सुख देकर चित्तको चुरा लेते हैं। तात्पर्य कि रूप देखनेवालेका चित्त भगवान्‌के रूपमें सदा बना (लगा) रहता है, अपने पास नहीं आता। इसीसे चुराना कहा। पुन: भाव कि नेत्रोंके सामने चोर कभी चोरी नहीं करता और ये लोचनोंको सुख देकर चित्तको चुराते हैं, चोर तो कहीं-कहीं ही चोरी कर पाते हैं और ये तो विश्वभरके चित्तको चुरा लेते हैं। (घ) ☞ भगवान्‌के सभी अङ्ग लोचनसुखद हैं और सभी चितचोर हैं, यथा—'***गाथें महामुनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं***'— यहाँ किसी अङ्गका वर्णन नहीं है, इसीसे सर्वाङ्गका ग्रहण है।

नोट—१ (क) पं० रामचरण मिश्रकी टिप्पणी '***लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा***' १९२ छंदपर देखिये। यहाँ जनकमिलनमें '***चोर***' पद उपक्रम है और आगे सभामें '***राजत राज समाज***' इस दोहेमें उसका उपसंहार है। अत: इसकी विशेष व्याख्या वहीं देखिये।

(ख) पं० श्रीरामदासगौड़जी कहते हैं कि विश्वचित्तचोर बड़ा ही उपयुक्त विशेषण है। विश्वकी चेतना स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् हैं। इस लोचन-सुखद श्याम-गौर मृदुकिशोर अवस्थाके रूपने अपने भीतर विश्वके चेतनको, सच्चिदानन्दघनको चुरा रखा है। क्योंकि यह मोहनरूप तो चोरोंका सरदार है, श्रुतिमें कहा भी है '**ॐ तस्कराणां पतये नम:।**' [विश्वचित्तके ही भावसे फुलवारीमें जगदम्बा सीताजीके आभूषणोंकी ध्वनि सुनकर सरकार कहते हैं—'***मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही॥***']

(ग) चोर आँख बचाकर चोरी करता है, क्योंकि देख लिया जाय तो शस्त्रादिसे पीछा किया जाय, पर ये नेत्रोंके देखते-देखते सुख देकर चित्तको चुरा लेते हैं और अत्यन्त भीतरकी वस्तुको निकाल लेनेवाले हैं। (रा० प्र० वै) पुन:, चोरको दण्ड दिया जाता है, पर यदि वह चोर नेत्रोंको सुख देनेवाला हो तो उसे कौन अपना सर्वस्व न दे देगा? अत: चोर कहते हुए भी '***लोचन सुखद***' कहा। (अनुरागलताजी)

टिप्पणी—३ '***उठे सकल जब रघुपति आए।***'— इति। (क) इससे दोनों भाइयोंका भारी तेज, प्रताप और बड़ाई दिखायी। जिन रामजीके किंचित् प्रतापसे उनके एक छोटेसे दूत अङ्गदको देखकर महाप्रतापी रावणकी सारी सभा उठकर खड़ी हो गयी थी, यथा—'***उठे सभासद कपि कहँ देखी॥***' (६। १९) स्वयं उन्हींको साक्षात् देखकर राजा जनक इत्यादि सब खड़े हो गये तो आश्चर्य ही क्या? यह तो उनके योग्य ही है।* (ख) उठकर सबने आपका आदर किया। उठनेसे श्रीरामजीकी बड़ाई हुई, बड़प्पन और प्रतिष्ठा हुई; इसीसे सबके उठनेका उल्लेख किया गया। विश्वामित्रजीने उनको अपने पास बिठा लिया, यह मुनिने उनका आदर किया। (ग) आना दो बार कहा गया,—'***तेहि अवसर आए दोउ भाई।***' और '***उठे सकल जब रघुपति आए।***' यह दो प्रयोजनसे, प्रथम बार '***अवसर***' जानकर समयसे आना कहा और दूसरी बार आते ही सबका उठना कहा। बीचमें यह कहने लगे थे कि कहाँ गये थे, कहाँसे आये, इसीसे फिर आनेकी

* पंजाबीजीका मत है कि 'मुनीश्वरोंका उठना विश्वामित्रजीकी इच्छासे हुआ और मुनियोंको देखकर तथा श्रीरामलक्ष्मणके तेजके कारण जनकके सब लोगोंका उठना हुआ।

बात कही गयी। (घ) भाइयोंको बिठाना कहा, क्योंकि इससे उनका मुनिके जीमें कैसा आदर है यह सबको दिखाना है; और सबोंका बैठना कथन करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है, इससे सबका बैठना न कहा। जब श्रीरामजी बैठ गये तब सभी बैठ गये। (ङ) निकट बैठाना वात्सल्यरसका प्यार है।

भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥ ७॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ ८॥

अर्थ—दोनों भाइयोंको देखकर सब सुखी हुए। (सबके) नेत्रोंमें जल (प्रेमाश्रु) भर आया और शरीर पुलकित (प्रेमसे प्रफुल्लित, रोमाञ्चित) हो गये॥ ७॥ मधुर-मनोहर मूर्तिको देखकर विदेहराज विशेष विदेह हो गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम और सबोंका प्रेम कहकर तब विदेहराजका प्रेम कहेंगे, यह सूचीकटाह न्याय है। (ख) दोनों भाई लोचन-सुखद हैं, इसीसे देखकर सब सुखी हुए और सबको प्रेम हुआ। प्रेमकी दशा आगे कहते हैं।—'*बारि बिलोचन*.......।' ☞ पूर्व जो '*लोचन सुखद बिस्वचितचोरा*' कहा था उसको यहाँ चरितार्थ करते हैं। प्रारम्भमें ही विश्वचितचोर कहकर जना दिया कि यहाँ सब चित्त लगाये हुए देख रहे हैं, यथा—'*राम लखन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥*' (ग) '*बारि बिलोचन*......' इति। नेत्रोंमें जल आनेका हेतु सुख है। सुख जल है जो नेत्रोंके द्वारा ऊपर देख पड़ा, यथा—'*सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी*'।

टिप्पणी—२ '*मूरति मधुर मनोहर देखी।*........' इति। (क) नेत्रोंको मधुर हैं क्योंकि रूप नेत्रका विषय है। दर्शनसे मन हर जाता है। इसीसे प्रथम '*मधुर*' कहकर तब '*मनोहर*' कहा। दो इन्द्रियाँ महाप्रबल हैं, एक नेत्र, दूसरा मन। '*मधुर मनोहर*' से जनाया कि ये इन दोनोंको वशमें कर लेते हैं। बाहरकी इन्द्रियोंमें नेत्र सबसे प्रबल हैं और भीतर मन प्रबल है। इसीसे इन्हीं दो इन्द्रियोंका सुख कहा। (ख) '*मधुर मनोहर*' इन दोनों शब्दोंको आगे चरितार्थ किया है। '*कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक*' में '*मधुर*' शब्दको और '*इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥*' में '*मनोहर*' शब्दको चरितार्थ किया है।

(स्मरण रहे कि दोनों भाइयोंकी मूर्ति मधुर और मनोहर है, क्योंकि आगे राजा स्वयं दोनों भाइयोंका देखना कहते हैं, यथा—'*ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥*.....' '*इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥*' ☞ इस प्रसङ्गभरमें दोनों ही भाइयोंका वर्णन है। अतः इस अर्धालीको केवल श्रीरामजीमें न लगाकर दोनों भाइयोंमें लगाना चाहिये।)

'भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी' इति।

पं० रामकुमारजी—१ 'विशेष विदेह' हुए कहनेका तात्पर्य यह है कि साथके सब लोग विदेह हो गये थे, यथा—'*तुलसिदास प्रभु देखि लोग सब जनक समान भए।*' (गी० ६१) और, जनकजी सबसे विशेष ज्ञाता हैं, इसीसे वे विशेष विदेह हुए। पुनः, भाव कि जनकजी ब्रह्मसुखमें विदेह रहते थे सो श्रीरामदर्शनसे विशेष विदेह हो गये; क्योंकि ब्रह्मसुखसे श्रीरामजीके दर्शनका सुख विशेष है, यथा—'*भए मगन सब देखनहारे। जनक समान अपान बिसारे॥*' '*जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥*' (७। ८८) '*अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौ गुन दिए।*' (जानकीमंगल २५) [☞ श्रीविदेहराजकी इस समयकी दशाका वर्णन गीतावलीमें विशेष रीतिसे वर्णित है। उससे '*बिदेहु बिसेषी*' का भाव भली प्रकार समझमें आ जायगा; इसीसे उसको हम यहाँ उद्धृत किये देते हैं। यथा—'*देखे रामलषन निमेषैं बिथकित भईं प्रानहुँ ते पियारे लगे बिनु पहिचाने हैं। ब्रह्मसुख हृदय दरस-सुख लोयननि, अनुभये उभय सरस राम जाने हैं॥ तुलसी बिदेहकी सनेह की दसा सुमिरि मेरे मन माने राउ निपट सयाने हैं।*' (पद ६१) पुनश्च, '*सुखके निधान पाये, हियके पिधान लाए ठगकेसे लाडू खाये, प्रेम मधु छाके हैं। स्वारथरहित परमारथी कहावत हैं, भे सनेह बिबस*

बिदेहता बिबाके हैं॥ २॥ सील सुधाके अगार, सुखमाके पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं। लोचन ललकि लागे, मन अति अनुरागे, एकरसरूप चित्त सकल सभा के हैं॥ ३॥' (पद ६४) पुनश्च यथा—*'देखि मनोहर मूरति मनु अनुरागेउ। बँधेउ सनेह बिदेह बिराग बिरागेउ॥'* (श्रीजानकीमंगल २६)]

२ जैसे 'जनक विशेष विदेह हुए' यह कहकर जनाया कि और सब विदेह हो गये थे, वैसे ही सब लोगोंके ***'बारि बिलोचन पुलकित गाता'*** कहकर जनक महाराजके भी नेत्रोंमें जल और शरीरमें पुलकावलीका होना बता दिया। यथा—***'भए बिदेह नेह बस देह दसा बिसराए। पुलक गात न समात हरष हिय सलिल सुलोचन छाए॥'*** (गी० १। ६३)

पाँड़ेजी—'**बिदेह**=देहाभासरहित। विदेहसे विदेह होना देही हो जाना है।'

प्रो० श्रीरामदास गौड़जी—राजा जनक विदेह निर्गुण उपासक थे, उन्हें तो संसारकी असारता और ब्रह्मकी नित्यताका ज्ञान निरन्तर बना रहता था। देहमें रहते भी वे देहरहित-से ही भावना रखते थे। परंतु परात्परके सगुणरूपके प्रत्यक्ष दर्शनसे उन्हें देहकी साधारण वृत्तियाँ भी भूल गयीं। अगोचर निर्गुण ब्रह्मकी कल्पना परबुद्धिसे ही हो सकती थी जिसमें ये सदा लीन रहते थे। इस समय वह परबुद्धि बरबस ब्रह्मकी कल्पनाको छोड़ इन्द्रियोंकी ओर प्रवृत्त हुई। इन्द्रियाँ सब विषयोंको छोड़ परात्परके सगुण रूपमें लीन हो गयीं। इस प्रकार पहले जो ब्रह्मज्ञान '**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' इस धारणासे ब्रह्मकी ओर प्रवृत्त था, '**इन्द्रियाणि रामे वर्तन्ते**' यह तथ्य देखकर ***'बरबस ब्रह्मसुखहिं त्यागा'*** जिस बातका वे स्वयं एकरार करते हैं।

पं० रामचरण मिश्र—यहाँ 'विशेष विदेह' से यह सूचित होता है कि पहले राजाका मन समाधिमें लय-विक्षेपको प्राप्त होता रहा था। अब इस मूर्तिके माधुर्यमें मन भी हाथसे जाता रहा, बेहाथ हो गया। अतः लय-विक्षेपका भय जाता रहा। अब देहका अध्यास और मनका भी अभ्यास जाता रहा, इससे 'विशेष विदेह' कहा। ☞इस अर्धालीमें 'गोस्वामीजीने उपासनाका तत्त्व कूट-कूटकर भर दिया है। राजा ब्रह्मज्ञानी हैं, ब्रह्मसुखमें निमग्न रहे, अब वह ब्रह्मसुख सरकार-सुखमें लय हो जानेसे अधिक सुखरूप हो गया, क्योंकि छोटी पूँजी ही बड़ीमें लीन होती है। ब्रह्मज्ञानके ध्यानमें जो प्रकाशरूप है वह श्रीसाकेतविहारीजीका आभासमात्र है, जब राजाको आभासका मूलाधार आश्रयस्वरूप नेत्रगोचर हुआ तब ब्रह्मके ध्यानका फल साक्षात्कार हुआ और यही कहना पड़ा कि ***'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा॥'***

पंजाबीजी—***'मधुर'*** से बाह्य इन्द्रियोंको और ***'मनोहर'*** से अन्तःकरणको प्रिय जनाया। राजा परम विदेही हो गये, अर्थात् ज्ञानके बल विदेह तो थे ही अब प्रेमके बल विशेष विदेह हो गये।

बैजनाथजी—**मधुर**=जिसे देखकर तृप्ति न हो। पहले साधारण विदेह थे, अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंके विषय और मन आदिकी वासनाओंको विवेक-बलसे खींचकर आत्मदृष्टिसे ब्रह्मानन्दमें स्वाभाविक ही मग्न रहते थे। वह विदेहता ज्ञानबलके आश्रित थी, इससे साधारण थी। और यहाँ इन्द्रियोंकी वृत्तिको माधुरीने खींच लिया और मन आदिकी वृत्तिको मनोहरताने, अतः श्रीरामप्रेमानन्दके परवश हो स्वरूपमें जो दृष्टि थी वह परस्वरूप रामजीमें लग गयी।

रा० प्र०—ब्रह्मस्वरूपमें विदेह हो रहे थे, उन्हें माधुर्यकी भी प्राप्ति हुई, अतः द्विगुण तत्त्वकी प्राप्तिसे '**विशेष** विदेह' कहा। अबतक देह-रहित थे, अब मनरहित भी हो गये, अतः 'विशेष विदेह' कहा। [यहाँ 'यमक' अलङ्कार है—प्रथम 'विदेह' राजा जनकका वाचक है और दूसरा 'विदेह' देहाभासरहितके अर्थमें है।]

करुणासिंधुजी—राज्य-विषयमें न लिप्त होनेसे ज्ञान-विदेह तो थे ही, अब देहविदेह भी हो गये क्योंकि इन्द्रियोंके व्यवहार रुक गये, अतएव 'विशेष' कहा।

मा० त० वि०—ब्रह्मस्वरूप तथा माधुर्य द्विगुणतत्त्वकी प्राप्तिसे विशेष विदेह हुए। अथवा, विदेहदशाकी शेखी (अभिमान) जो '**अहं ब्रह्मास्मि**' मानते थे वह बाकी न रह गयी, किंतु '**दासोऽहम्**' भाव उपज आया। अतः *'बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा।'*

दो०—प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गँभीर॥ २१५॥

शब्दार्थ— **गदगद** (गद्गद) गिरा=अधिक हर्ष-प्रेम और श्रद्धादिके कारण स्वरके रुक जानेसे रुक-रुककर वा असम्बद्ध वचन जो निकले।=प्रेमसे विह्वल दशाके वचन। **गँभीर**=गहरी। एवं जिसका आशय समझना कठिन हो; गूढ़। बहुत आशय भरी हुई।

अर्थ—मनको प्रेममें मग्न (डूबा हुआ) जान ज्ञानसे धीरज धारणकर राजा मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर गद्गद और गम्भीर वाणीसे बोले॥ २१५॥

टिप्पणी—१ *'करि बिबेक धरि धीर'* इति। प्रेममें जब मन मग्न हो जाता है तब मुँहसे कुछ कहते-बोलते नहीं बनता, यथा—*'कोउ किछु कहै न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥'* (२। २४२) राजा प्रेममें मग्न हैं अतः कुछ बोल न सकते थे। इसीसे उन्होंने मनको सावधानकर विवेक किया। विवेक करके धीरज धारण किया। धीरज धरकर तब आगे वचन कहते हैं।*'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक'* से लेकर *'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥'* तक विवेक कहा है।

नोट—पं० रामकुमारजीने दोनों अर्थ दिये हैं। एक तो यह कि 'विवेक करके, धीरज धरके और मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर……।' दूसरे यह कि 'विवेक करके, धीरज धारण किया और मुनिके……' पर प्रधान अर्थ उनका प्रथम ही है; क्योंकि आगेकी व्याख्या उसीके अनुसार की है। श्रीरामदास गौड़जीका मत भी यही जान पड़ता है। वे लिखते हैं कि 'परात्पर ब्रह्म तो बुद्धि-विवेकादि सबसे परे हैं। **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'**। बुद्धि-विवेक संसारके अन्तर्गत हैं। यहाँ तो वह सामने है *'जेहि जाने जग जाइ हेराई।'* अतः बुद्धि-विवेक तो उसपर निछावर हो चुके थे। धैर्य धर विवेकको बटोरकर मुशकिलसे अकल ठिकाने करके बोले।'

रा० प्र०—*'करि बिबेक'* अर्थात् मनको समझाया कि तू इतनेहीमें क्यों तृप्त हो गया? अभी तो तूने एक छटामात्र देखी है, शोभामें डूब जानेसे आगे फिर और व्यवहार हँसी-बोलचाल इत्यादि अनेक लीलाओंका रसास्वाद क्योंकर मिलेगा?

टिप्पणी—२ *'बोलेउ मुनिपद नाइ सिरु'* इति। श्रेष्ठ लोग, शिष्ट पुरुष बड़ोंको प्रणाम करके बोला करते हैं। यथा—*'करि प्रनामु मुनि मंडलिहि बोले गदगद बयन।'* (२। २१०) (भरत), *'गे नहाइ गुरु पहिं रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई॥'* (२। २९०) *'कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान। नाइ रामपदकमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥'* (१। २५२) (लक्ष्मण)। इत्यादि। पुनः, भाव कि श्रीरामजीके स्वरूपको जानना चाहते हैं, इसीसे चरणोंमें मस्तक नवाकर पूछते हैं। जिज्ञासुको ऐसा ही चाहिये। [श्रीपार्वतीजी, श्रीभरद्वाजजी इत्यादिके उदाहरण इसी ग्रन्थमें मौजूद हैं। जिज्ञासु बनकर श्रीशङ्करजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी इत्यादिसे इसी तरह पूछा गया है।]

टिप्पणी—३ (क) *'गदगद गिरा गँभीर'* इति। मन प्रेममें मग्न था, इसीसे वाणी गद्गद है, वाणीका स्वर एवं उसका अर्थ गम्भीर है। (ख) यहाँ राजाके मन, वचन और कर्म तीनोंकी दशा कही, तीनों अनुरक्त हैं। *'प्रेम मगन मन जानि नृप'* यह मन, *'धरि धीर'* यह कर्म और *'बोले मुनिपद नाइ सिरु……'* यह वचन है। ['सिर नवाना' *('नाइ सिर')* कर्म, वाणी (गद्गद गिरा) वचन है। मन, वचन और कर्म तीनों अनुरक्त हैं। तीनोंका उपराम ज्ञानसे कर रहे हैं।' (प्र० सं०)]

पं० दामोदरप्रसाद शर्मा—जब अत्यन्त भारी परिश्रमके पश्चात् जीवको आत्मानन्द मिलता है तो वह अपने ही सहज आत्मानन्दीय सुखमें डूबा रहता हुआ अपनी सारी संपत्तिको मुद्दा समझता है, इस समय हम उसे शुद्धात्मा कहते हैं। कारण कि उसमें संसारी विकार नहीं रहता, संसारकी वस्तुएँ

उसे दु:खी नहीं करतीं, उनके उदय-अस्तमें वह अपनी लाभ-हानि कुछ नहीं समझता, औरकी क्या चली वह अपने शरीरतकको भूल जाता है। ऐसे शुद्ध जीवको हम विदेह कहते हैं।

बस, राजा जनक इसी तरहके विदेह पुरुष थे। आत्मानन्दमें वे इतने छके रहते थे कि उन्हें उनकी चित्तवृत्ति संसारकी मुधा माधुरीकी ओर स्वप्नमें भी नहीं जाने देती थी। विष्णुभगवान्, महाविष्णुभगवान्, विराट्-भगवान् और महाविराट्-भगवान्‌को वे अपनी ही नाईं विदेह पुरुष मानते थे और इन्हें उसी आत्मानन्दके उपासक समझते थे। इन प्रभुओंमेंसे किसी एक भी प्रभुका जब आपको साक्षात्कार हुआ तब आपकी चित्तवृत्तिमें कभी फरक नहीं देखा गया। ब्रह्मा, विष्णु, महेशादिसे मिलना-जुलना और उनके साथ उठना-बैठना तो उनके जीवनके मामूली काम रहे हैं। ऐसे अवसरोंपर आत्मानन्दरूपी गम्भीर सागरमें आप डूबे हुए दिखे हैं। आपकी बराबरी आत्मानन्दमें करनेकी यदि कोई दम भरते थे तो सनकादिक ही थे। इनका भी यही हाल रहा है।''''''''''''सारांश कहनेका यह कि ये भगवान्-कोटिके पुरुष आत्मानन्दके सामने किसी भी देवदेवादिको कोई माल नहीं गिनते थे। इस बातका Diploma (तमगा) इनके भुजदण्डोंपर सदैव लटकता ही रहता था।

वही जनक महाराज आज श्रीराम-लक्ष्मणजीकी अद्वितीय छबिको देखकर बावले हो गये। आत्मज्ञान लापता हो गया। आत्मानन्द परमानन्दमें जा मिला। वे चकोरवत् देखते रह गये। ज्ञानका पता नहीं। अकथनीय आश्चर्यमें डूब गये और व्याकुल होकर मुनिसे इनका परिचय माँगने लगे। शृङ्खलाबद्ध प्रश्न-पर-प्रश्न होने शुरू हुए।

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि कुल तिलक कि नृपकुलपालक॥ १॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥ २॥

शब्दार्थ—'**तिलक**'—टीका मस्तकपर—ललाटपर होता है; इसीसे '**तिलक**' का अर्थ है 'शिरमौर, शिरोमणि, भूषण, प्रकाशक इत्यादि।' **उभय**=दो।

अर्थ—हे नाथ! कहिये, ये दोनों सुन्दर बालक मुनिकुलके भूषण हैं कि राजकुलके पालन करनेवाले हैं (अर्थात् मुनिपुत्र हैं या कि राजकुमार हैं?)॥ १॥ या कि जिस ब्रह्मको वेद नेति-नेति कहकर गाते हैं, वही दो वेष (रूप) धारण करके आया है?॥ २॥

प्रोफे० श्रीरामदास गौड़जी—विवेक और बुद्धिके प्रेरकने [उरप्रेरक रघुबंशबिभूषन। '**धियो यो नः प्रचोदयात्**'] प्रत्यक्षमें जनकजीकी वाणीको गड़बड़ा दिया। राजकुमारोंका रूप तो साफ कहे देता था कि '***नृपकुलतिलक***' और '***मुनिकुलपालक***' हैं; क्योंकि राजकुमारोंके मख-रखवारीकी कीर्ति तो कभीकी फैल चुकी थी। परंतु सरस्वतीको सच्ची परंतु अलौकिक बात मुँहसे निकलवानी थी। विवेकको धैर्यपूर्वक समेट लिया है, परंतु वागिन्द्रिय तो सरकारहीकी स्तुतिमें मग्न है। वह कहती है '***मुनिकुलतिलक***' अर्थात् नर-नारायण हैं क्या? अथवा '***नृपकुलपालक***' इस ब्रह्माण्डके पालक परम्पराके रक्षक भगवान् विष्णु हैं क्या? [द्विजकुलपालक परशुरामका अवतार हो चुका है। जनकजी जानते हैं। इसीलिये यहाँ नृपकुलपालक साभिप्राय है भगवान् विष्णुके लिये।] अथवा '***ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥***' [जनकजीने जो तीन प्रश्न किये वही तीन प्रश्न वटुरूप हनुमान्‌जी भी किष्किन्धाकाण्डमें करते हैं।] तीनों प्रश्नोंमें अन्तिमपर बड़ा जोर है, कारण, मेरा मन स्वभावसे ही नामरूपमय संसारसे विरक्त है, वह भी इस रूपपर ऐसा मोहित हो गया है, मेरी निगाहें इनपर ऐसी अटक गयी हैं जैसे चन्द्रमाके रूपपर चकोरकी। सिवा इसके जो मन कि ब्रह्मसुखमें निरन्तर डूबा रहता है, वह आज बरबस ही ब्रह्मानन्दहीको छोड़ इस छबिके आनन्दमें डूब रहा है। इत्यादि।

श्रीलमगोड़ाजी—पं० श्रीजयदेवशर्माजीके सामवेद-संहिताके भाषा-भाष्यके अध्ययनसे भी साफ पता लगता है कि कहीं तो ईश्वरीय सत्ताके हृदयमें प्रकट होनेकी प्रार्थना है और कहीं उसे बाहर भी प्रकट होना कहा है। स्वामी दर्शनानन्दजीने भी अपने उपनिषदोंके अनुवादमें लिखा है कि जीव भी जब ईश्वरमें

लीन होता है तो आगमें लाल हुए लोहेके गोलेकी तरह अपनेको अग्नि (ईश्वर) ही मानता है। उन्होंने अपने वेदान्तभाष्यमें लिखा है कि जीवन्मुक्त आचार्योंने अपनेको 'स्व' (ब्रह्मरूप) कहा है। बात केवल दृष्टिकोणकी रह जाती है। कोई अवतार कहे, कोई प्रकट होना।

नोट—अध्यात्मरामायणमें श्रीजनकजीके वचन हैं कि 'ये मेरे हृदयमें इस समय नर और नारायणके समान प्रीति उत्पन्न कर रहे हैं, यथा—'**मनःप्रीतिकरौ मेऽद्य नरनारायणाविव॥**' (१। ६। ९) इससे गौड़जीके भावकी भी पुष्टि होती है। और वाल्मीकीयमें कहा है कि ये दो देवता मालूम होते हैं, जो अपनी इच्छासे देवलोकसे मर्त्यलोकमें आये हैं। (वाल्मी० १। ५०। १९)

टिप्पणी—१ '*कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।*……' इति। (क) प्रथम ही '*सुंदर दोउ*' यह शब्द राजाके मुखसे निकलकर राजाके अन्तःकरणकी सौन्दर्यपर मुग्धताका परिचय दे रहा है। सुन्दरताने राजाके मनमें घर बना लिया, मनको हर लिया है। यथा—'*ए कौन कहाँ ते आए। नीलपीत पाथोज बरन मनहरन सुभाय सुहाए॥*' (गी० ६३) (ख) ['बालक' शब्द वात्सल्यस्नेहका द्योतक है। (पं०)] (ग) '*मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक*' इति। इससे पाया गया कि जब दोनों भाई फुलवारी देखने गये तब धनुषबाण नहीं लिये थे, इसीसे राजाको संदेह हुआ कि ब्राह्मण हैं या क्षत्रिय। मुनिके साथ हैं इससे मुनिपुत्र होनेका संदेह हुआ और अङ्गोंसे राज्यलक्षण देखकर राजपुत्र होनेका संदेह हुआ। [वा यह समझकर कि मुनिके कोई पूर्वके सम्बन्धी न हों '*नृपकुलपालक*' कहा। (रा० प्र०) 'श्रीरघुबीरजीने अरण्यकाण्डमें कहा है कि हम '*मुनिपालक खलसालक बालक*' हैं। जनकजीकी वाणीमें गड़बड़ी उड़ गयी है, यह इस वचनसे सप्रमाण सिद्ध होता है।' (प० प० प्र०)] (घ) '*मुनिकुलतिलक*……' कहनेका भाव कि यदि मुनिपुत्र होंगे तो समस्त मुनियोंमें श्रेष्ठ होंगे और यदि राजपुत्र होंगे तो राजकुलके पालक अर्थात् किसी चक्रवर्ती राजाके पुत्र होंगे। क्योंकि ब्रह्मका अवतार जहाँ भी होगा वहाँ सबसे ही श्रेष्ठ होगा। आगे ब्रह्मके अवतारका अनुमान करते हैं। [और त्रेतामें नररूपसे अवतार दो ही कुलोंमें होते हैं या तो ब्रह्मकुलमें या क्षत्रियकुलमें। अतः यदि ब्रह्म हैं तो इन्हीं दोमेंसे एकमें होंगे।] (ङ) मुनिके साथ हैं इसीसे प्रथम मुनिकुलतिलक कहा। (च) प्रथम व्यवहारकी बात पूछकर तब परमार्थका प्रश्न करते हैं क्योंकि व्यवहारके अन्तमें परमार्थ है।

टिप्पणी—२ '*ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।*' इति। (क) मनके हरण हो जानेसे अब ब्रह्मके अवतारका अनुमान करते हैं, क्योंकि जनकजीका मन 'विरागरूप' है, वह ब्रह्मको छोड़ दूसरी जगह अनुराग नहीं कर सकता। (ख) '*नेति कहि गावा*' अर्थात् वेद '*न इति*' कहता है अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है, यह भी ब्रह्म नहीं है। तात्पर्य कि वेद यह निश्चय नहीं कर सकते कि यही है। (वा इनकी इति नहीं है, जो हमने कहा इतना ही नहीं है।) (ग) '*उभय बेष धरि की सोइ आवा*' इस कथनसे पाया गया कि ब्रह्म सगुणरूप धारण करता है। (यह इतने बड़े योगेश्वर ब्रह्मज्ञानी श्रीजनकमहाराजका सिद्धान्त है।) यही श्रीशङ्करभगवान्‌का मत है, यथा—'*जेहि कारन अज अगुन अनूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर भूपा॥*' (१४१। २) जिनका मत है कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता वे भ्रममें पड़े हुए हैं, यह मत उनके भ्रम और अज्ञानताका सूचक है। क्योंकि जहाँ सतीजीका अज्ञान और भ्रम कहा गया है वहाँ ऐसा लिखा है कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता, यथा—'*ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥*' (५०) (घ) '*आवा*' इति। 'ब्रह्म तो सर्वत्र पूर्ण है, आया कहाँसे? '*आवा*' कैसे कहा? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मका वेष धारण करना कहते हैं, तब उसका आना-जाना भी कहा जाता है। सगुणका आना और जाना दोनों होता है। हमारे यहाँ रूप धरकर आया (वा श्रीअवधमें रूप धारण करके प्रकट हुआ और वहाँसे हमारे यहाँ आया।) [श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'राजा निरवयव ब्रह्मनिष्ठी हैं, इसलिये उन्होंने कहा कि ब्रह्म तो नहीं हैं जो दो स्वरूप धरकर आये हों। यह सावयव ब्रह्ममूर्ति अतएव संदेह किया।'] ☞ आगे ब्रह्म अनुमान करनेका कारण बताते हैं कि '*सहज बिरागरूप*………।' पुनः '*उभय बेष धरि*……' का भाव कि जैसे ब्रह्म विलक्षण है, वैसा ही उसने विलक्षण रूप धरा है; एकसे दो हो गया।

नोट—१ गीतावलीमें बहुत तरहसे अनेक उपमाएँ देकर राजाका मुनिसे पूछना लिखा है कि जो पढ़ने-

योग्य हैं। यथा—*'ए कौन कहाँ ते आए। मुनिसुत किधौं भूपबालक किधौं ब्रह्मजीव जग जाए। रूपजलधिके रतन सुछबि तिय लोचन ललित ललाए॥ किधौं रबिसुवन मदन रितुपति किधौं हरिहरको बेष बनाये। किधौं आपने सुकृतसुरतरु के सुफल रावरेहि पाये॥'* (गी० १। ६३। २-३)

नोट—२ ☞ श्रीराम-लक्ष्मणके प्रभावमें माधुर्य और ऐश्वर्यका मिश्रण विचारणीय है। महाकाव्यकला और नाटकीय कलाका एकीकरण बड़ा सुन्दर है, मगर मजा यह है कि ब्रह्मत्व माधुर्यपूर्ण शृङ्गारमें प्रकट हुआ है, इससे श्रीजनकजीको भ्रम-सा है कि ब्रह्मसुख छूट गया। बड़े लुत्फकी बात है कि अभी वह यह नहीं समझते कि ब्रह्मत्व ही प्रकट हुआ है और उनके मनकी दिशासूचक सुई इसलिये अपने ध्रुवपर जा लगी। (राजारामशरणजी)

सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥ ३॥
ताते प्रभु पूछौं सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥ ४॥

शब्दार्थ—**थकित**=मोहित, ठिठककर लगे रह जानेकी क्रिया। **सति भाऊ**=सद्भावसे।

अर्थ—मेरा मन जो स्वाभाविक ही वैराग्यका रूप (साक्षात् वैराग्यकी मूर्ति) ही है (इनको देखकर) इस तरह थकित हो रहा है जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोर थकित होता है॥ ३॥ हे प्रभो! इसीलिये मैं आपसे सच्चे भावसे पूछता हूँ। स्वामिन्! कहिये, बताइये। छिपाव न कीजिये (कोई बात छिपाइयेगा नहीं)॥ ४॥

नोट—कदाचित् मुनि कहें कि अभी तो इन्हें राजकुमार कहते थे, अब ब्रह्म कैसे निश्चय करते हो; उसपर कहते हैं—*'सहज······'*।

टिप्पणी—१ *'सहज बिराग रूप मन मोरा।·········'* इति। (क) *'सहज बिराग रूप'* अर्थात् बिना किसी साधनके स्वतः जन्मसे ही विषयोंसे वैराग्यवान् है, विषयोंमें लिप्त नहीं हुआ। ['विरागरूप' कहनेका भाव यह है कि मेरा मन मानो मूर्तिमान् वैराग्य ही है, क्योंकि यदि मन और वैराग्य पृथक्-पृथक् रहते (होते) तो मनसे वैराग्य कभी-कभी छूट भी जाता, उसको किसी पदार्थमें राग हो जाना सम्भव था; पर यहाँ ऐसी बात नहीं है, यहाँ मन वैराग्यका रूप हो गया, इसीसे वह वैराग्यसे पृथक् नहीं हो सकता। तात्पर्य कि मेरे मनमें सदा वैराग्य बना रहता है।] (ख) वैराग्यके साधन अरण्यकाण्डमें यों कहे हैं—*'प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि विषय बिरागा।'* (३। १६) जनकजीमें वैराग्यके ये सब साधन प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तब बिना साधन वैराग्यरूप कैसे कहा? 'बिना साधन' का भाव यही है कि बालपनेसे ही ये सब बातें हमारे मनमें अपनेसे ही मौजूद थीं, हमें जन्मके बाद कोई साधन वैराग्य-प्राप्तिके करने नहीं पड़े। यथा—*'मुनिगन गुर धुरधीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसें कनक से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जग जल जाए॥'* (२। ३१७)

नोट—१ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि *'नटकृत कपट बिकट खगराया। नटसेवकहि न ब्यापइ माया॥'* पुनः यथा—**'मायाबलेन भवतापिनि गुह्यमानं पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः॥** अर्थात् मत्स्यादि अवतारोंमें तो प्रभु भक्तोंसे छिप न सके तब यहाँ कैसे छिप सकते थे। नोट—२ *'उभय बेष धरि की सोइ आवा'* उसीकी पुष्टि यहाँ कर रहे हैं। या यह कहिये कि 'यह कैसे निर्णय किया कि ये ब्रह्म हैं?' इसका उत्तर यहाँ दे रहे हैं कि निर्विकल्प समाधिको छोड़कर मेरे मनने इनमें सुख माना है। मुझे विश्वास है कि मेरा मन कदापि प्राकृत पदार्थमें आसक्त नहीं हो सकता।—(पंजाबीजी, रा० प्र०)

नोट—३ ☞ स्मरण रखें कि ब्रह्मनिष्ठ अनुभवी महात्माओंके अनुभव सदा सत्य ही होते हैं। इसी तरह श्रीहनुमान्‌जीका अनुभव ब्रह्मके साक्षात्कार होनेपर हुआ—*'की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार।'* इसी तरह अयोध्याकाण्डमें तापसके विषयमें जो कहा गया है कि *'मनहु प्रेम परमारथ दोऊ',* इनमेंसे श्रीरामजी तो **'ब्रह्म परमारथ रूपा'** हैं ही, दूसरा सिवाय 'प्रेम' (मूर्तिमान्) के और कौन होगा? विचार करें। आगे प्रेमकी दशा दिखानी है, अतः वह स्वयं आकर दिखा रहा है।

टिप्पणी—२ *'थकित होत जिमि चंद चकोरा।'* इति। (क) चन्द-चकोरकी उपमा देनेका भाव कि

जैसे चकोर सबसे विरागी होकर चन्द्रमाकी छबिको देखकर थकित होता है, वैसे ही हमारा सबसे विरागी मन राजकुमारोंकी छबि देखकर थकित हुआ है। दोनों राजकुमारोंकी छबि देखकर जनकजी विशेष विदेह हो गये थे, इसीसे उन्होंने चन्द-चकोरकी उपमा दी। चन्द्रमाको देखकर चकोर विदेह हो जाता है। ☞ सगुण ब्रह्मके दर्शनमें भक्तोंको चकोरकी उपमा दी गयी है, यथा—*'देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई॥'* (३। १७। ७) उदाहरण यथा—*'मुनि समूह महँ बैठे सनमुख सब की ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर॥'* (३। १२) (ख) जनकजी अपने मनकी वृत्तिसे इनको ब्रह्म निश्चय करते हैं, यथा—**'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।'** अभिज्ञानशाकुन्तलम्।' (१। १९) (ग) चकोर पक्षी जड़ है, मूर्ख है। वह यह नहीं जानता कि चन्द्रमा कौन है? किसका पुत्र है? केवल उसकी सुन्दरतापर रीझता है। वैसे ही हम इनको नहीं जानते। जैसे चन्द्रमाको देख चकोर देह-सुध भूल जाता है, नेत्र नहीं फेरता, टकटकी लगाये रह जाता है, वैसी ही हमारे मनकी दशा हो रही है, वह वहीं स्थगित होकर रह गया है, इनको छोड़ता ही नहीं।—यहाँ उदाहरण अलङ्कार है। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—३ *'तातें प्रभु पूछौं सतिभाऊ······'* इति। [(क) *तातें* =इसलिये। अर्थात् अपने वैराग्यरूप मनकी अनुरक्त दशा देखकर मुझे सन्देह हो रहा है, मैं कुछ निर्णय नहीं कर सकता, इसलिये मैं पूछता हूँ। सम्भव है कि मुनि मनमें समझें कि राजा बड़े भारी योगेश्वर हैं, इन्होंने श्रीरघुनाथजीका वास्तविक स्वरूप जान लिया, इनके यहाँ बड़े-बड़े योगेश्वर शिक्षा लेने आते हैं, ये अवश्य हमारी परीक्षा लेनेके लिये प्रश्न कर रहे हैं। अर्थात् इनके प्रश्नपर असद्भावका आरोपण हो सकता था; इसीसे ये प्रथम ही कह रहे हैं कि *'पूछौं सतिभाऊ'* अर्थात् समीचीन भावसे, सच्चे भावसे सत्य ही अपने जाननेके लिये जिज्ञासु होकर पूछ रहा हूँ। यह न समझिये कि ये बड़े ज्ञाता हैं, हमसे किस भावसे पूछते हैं।] (ख) *'जनि करहु दुराऊ'* इति। इस कथनका भी यही प्रयोजन था। दुराव करनेकी भी यहाँ जगह है, क्योंकि श्रीरामजीको अपना ऐश्वर्य सुनकर अच्छा नहीं लगता, यथा—*'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।'* (विनय० १६४) वे अपने ऐश्वर्यको माधुर्यमें छिपाते हैं; इसीसे बड़े लोग ऐश्वर्यको नहीं खोलते और फिर उनके सामने ही उनका ऐश्वर्य प्रकट करें, इसमें तो अवश्य सन्देह है। अतः कहा कि छिपाइयेगा नहीं, स्पष्ट करके कहिये। भाव यह कि भगवान्‌के स्वरूपमें संशय न रखना चाहिये। संशय हो तो उसको तुरत साफ कर लेना चाहिये, संदेह मिटा लेना चाहिये, क्योंकि संशयके गये बिना रामस्वरूप नहीं समझ पड़ता, यथा—*'तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ। रामस्वरूप जानि मोहिं परेऊ॥'* (१२०। २) अतः मेरे संशयकी निवृत्ति कर दीजिये। ☞ *'सतिभाऊ'* सच्चे भावमें दुराव नहीं होता, इसीसे कहते हैं कि दुराव न कीजिये, मैं सद्भावसे-सच्चे भावसे पूछता हूँ।

नोट—४ पंजाबीजी लिखते हैं कि मुनीश्वरसे पूछनेमें राजाका भाव यह है कि जैसे कोई जौहरी अमूल्य रत्नको स्वयं परखता है और अपनी बुद्धिकी परीक्षाके निमित्त अन्य पारखियोंसे भी निर्णय कराता है, वैसे ही यह अपने अनुभवको निश्चय करना चाहते हैं।

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥ ५॥

अर्थ—इन्हें देखते ही (मेरा) मन इनमें अत्यन्त अनुरक्त (आसक्त, प्रेममय, प्रेमरङ्गमें रँगा हुआ) हो गया, (वा, मेरा मन इन्हें अत्यन्त अनुरागसे देख रहा है), और उसने जबरदस्ती ब्रह्मसुखको छोड़ दिया है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'बिलोकत अति अनुरागा'* का भाव कि मन अत्यन्त विरागी था सो इनके ऊपर अति अनुरागी हो गया। (ख) *'बरबस त्यागा'* का भाव कि हम ब्रह्मसुखको त्याग करना नहीं चाहते, पर हमारा मन उसे त्याग रहा है। इससे पाया जाता है कि ब्रह्मसुखसे सगुण सुख अधिक है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म जब सगुण होता है तभी उसकी शोभा अधिक होती है, यथा—*'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा॥'* (४। १७) जैसी शोभा हुई वैसा ही सुख हुआ। (ग) *'ब्रह्मसुखहि'* कहनेका भाव कि योगी ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं, यथा—*'ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न*

रूपा॥'(२२। २) (घ) ☞अर्धालीका भाव यह है कि मन ब्रह्मसुखको अनुभव करता है और इनको नेत्रोंद्वारा देख रहा है; इसीसे इनमें *'अति'* अनुराग है। अनुभवसे साक्षात् दर्शन करनेमें अधिक सुख है, इसीसे मनने ब्रह्मसुखको बरबस त्याग दिया। ☞ (ङ) *'प्रेम मगन मन जानि नृप'*—मन प्रेममें मग्न है, अतः कहा कि *'सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥'* और *'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥'* यथा—*'जेहि सुख लागि पुरारि असिव बेष कृत सिव सुखद।*......'

नोट—*'अति'* का भाव कि ब्रह्मसुखमें अनुराग था, इनमें अति अनुराग है। *'बरबस'* का भाव भी इसी *'अति अनुरागा'* से जना दिया है अर्थात् ब्रह्ममें सुख था और इनमें *'अति सुख'* अनुभव कर रहा है। (प्र० सं०)

कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥ ६॥

शब्दार्थ—**अलीका**=मिथ्या, झूठा, मर्यादारहित, अप्रतिष्ठित, बेसिर-पैरका।

अर्थ—मुनिने हँसकर कहा कि राजन्! आपने अच्छा (अर्थात् यथार्थ ही) कहा। आपका वचन झूठा नहीं हो सकता॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका*......' इति। (क) यह हँसी प्रसन्नताकी है। राजाकी पहुँचपर विश्वामित्रजी प्रसन्न हुए कि खूब समझे। मुनिने सोचा कि राजा बड़े चतुर हैं, इन्होंने श्रीरघुनाथजीका वास्तविक स्वरूप जान लिया कि जिसमें हम भी भूल गये थे। (ख) *'कहेहु नीका'* अर्थात् जो आपने कहा वह सत्य है, आपका वचन यथार्थ ही है। इन शब्दोंसे राजाके वचनोंकी प्रशंसा करके मुनिने उनके अनुमानको सही बताया, इतनेहीसे श्रीरामजीका ब्रह्म होना उनको निश्चय करा दिया। ☞यही मुनिका उत्तर देना है। इस उत्तरमें दोनों बात रही। राजाका उत्तर भी हो गया और स्पष्टरूपसे श्रीरघुनाथजीका ऐश्वर्य भी न खुला। इस तरह मुनिने राम और राजा दोनोंकी रुचि रखी। श्रीरघुनाथजीके ऐश्वर्यका संकेत किया क्योंकि वे पास बैठे हैं, उनको ऐश्वर्यकथनसे संकोच होता है। आगे माधुर्य खोलकर विस्तारसे कहते हैं। [☞श्रीराजारामशरण (लमगोड़ाजी) इस मौकेपर लिखते हैं कि 'यही ठीक है, मगर यहाँ हास्यरसका वह आनन्द भी है जो उस समय होता है जब कोई मित्र भेष बदलकर आवे और हम कुछ पहिचानें तथा कुछ भ्रम हो और एक तीसरे मित्रको सही करनी पड़े। भ्रम, पहिचान और सही तीनों यहाँ हास्यरसके अङ्ग हैं।'] (ग) राजाने जो कहा था कि *'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥'* यह बात मुनिको बहुत अच्छी लगी, इसीसे वे उनकी सराहना करते हैं। *'नीक कहेहु'* में राजाके अन्तिम वचनका भी उत्तर आ गया। तात्पर्य कि ये ब्रह्म ही हैं, इनमें ब्रह्मसुखसे अधिक सुख है, ब्रह्मसे ये अधिक प्रिय हैं—यही बात आगे कहते हैं।

नोट—१ हँसनेके और भाव ये हैं—(क) मुनि हँसे कि 'अभीतक निर्गुण ब्रह्महीमें सुख मानते थे, यथार्थ सुखका अनुभव आज हुआ।' (ख) अभीतक ज्ञानको सुख मानते थे, वह आज प्रेमकी एक ही चोटमें चूर्ण हो गया।' (वै०, रा० प्र०) (ग) 'जैसे किसीके पास कोई अलभ्य पदार्थ छिपा हो और उसे देखकर कोई दूसरा तुरत पहिचान ले तो वह प्रथम मनुष्य प्रसन्न होता है, इसी तरह श्रीरामजीके वास्तविक स्वरूपकी पहिचानसे मुनि प्रसन्न हो हँसे।' (पं०) (घ) अभी तो प्रश्न करते हैं और तुरत ही उनके बड़े संयोग (सम्बन्ध) और आनन्द होने हैं यह भावी विचारकर हँसे। (पं०)

नोट—२ (क) 'राजाने प्रथम देहभावका प्रश्न किया—*'मुनि कुल तिलक कि नृप कुल पालक।'* फिर आत्मभावका प्रश्न किया—*'जो निगम नेति*......।' मुनि आत्मभावके प्रश्नका उत्तर प्रथम दे रहे हैं।' (वै०) (ख) *'न होइ अलीका'* इति। ☞स्मरण रहे कि ब्रह्मज्ञानी, जिसको ब्रह्मका सदा Communioh साक्षात्कार-सा ही रहता है, जिसका मन सदा उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌के सन्निधिमें ही रहता है, जो सदा भगवान्‌से ही बातें करता रहता है, उसका अनुभव कभी असत्य नहीं होता। [श्री १०८ सीतारामशरण भगवानप्रसाद (श्रीरूपकलाजी) इसके एक ज्वलन्त उदाहरण इस घोर

कलिकालमें भी साक्षात् देखनेमें आये।] (ग) जहाँ संदेहालङ्कार होता है वहाँ ब्रह्मज्ञानीके मनमें जो अनुभव आता है, वह यथार्थ होता है'। (रा० कु०)

ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी॥ ७॥

अर्थ—(संसारमें) जहाँतक (जितने भी) प्राणधारी जीव हैं उन सभीको ये प्रिय हैं। (मुनिके ये) वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी मनमें मुस्करा रहे हैं॥ ७॥

*** ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी' इति।***

नोट—१ इस एक छोटेसे पदमें बृहदारण्यकोपनिषद्के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवादका निचोड़ है। इससे विश्वामित्रजीका इशारा परमात्माकी ओर है जो जनकजीके लिये स्पष्ट है, परंतु जगत्‌के लिये गूढ़ है। भगवान्‌के ऐश्वर्यको अपनी वाक्-चातुरीसे बताया और छिपाया भी। इसपर भगवान् मन-ही-मन मुसकराये। (गौड़जी)

टिप्पणी—'*ये प्रिय सबहि*......' इति। (क) '*ये प्रिय सबहि*' अर्थात् कुछ आपहीको प्रिय नहीं हैं, ये तो सभीको प्रिय हैं। (ख) '*जहाँ लगि प्रानी*' अर्थात् प्राणिमात्रको प्रिय हैं। '*प्रानी*' शब्दमें भाव यह है कि जितने भी प्राणधारी हैं, उन सबोंके ये प्राण हैं। यथा—'*प्रान प्रान के जीवन जी के।*' '*प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।*' (२। २९०) प्राण सबको प्रिय है, यथा—'*देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।*' (२०८। ४) और ये जहाँतक भी प्राणवाले हैं उन सबोंको प्रिय हैं अर्थात् उनके प्राणोंके भी प्राण हैं। 'सबको प्रिय होना' यह ब्रह्मका लक्षण है। यथा—'**अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्॥** [अर्थात् सत्, अस्ति, चित्—भाति और प्रिय आनन्द, ब्रह्मके इन तीन लक्षणोंमेंसे यहाँ केवल '*प्रिय*' आनन्द यह लक्षण कहकर इनको ब्रह्म जना दिया। प्रथम संस्करणमें इसीको इस प्रकार लिखा गया था कि ब्रह्म तीन गुणोंसे जाना जाता है—स्थिर, कान्ति और प्रिय। मुनिने इसमेंसे '*प्रिय*' गुणद्वारा ब्रह्मका स्वरूप लक्षित कर दिया। '*प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी*', यथा—'**येन प्राणः प्रणीयते**' (इति श्रुतिः) (मा० त० वि०)]

टिप्पणी—२ श्रीजनकमहाराजने जो कहा था कि '*सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥*' उसीपर मुनि कहते हैं कि '*ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।*' अर्थात् इनको देखकर जो दशा आपकी हुई है, वही दशा सब प्राणियोंकी होती है। आपका मन ब्रह्मसुखको छोड़कर इनमें अनुरक्त हो रहा है और जैसे आप इन्हें देखकर सुखमें, अति आनन्दमें मग्न हुए हैं, इसी तरह सब प्राणियोंका मन विषयोंको छोड़कर इनमें अनुराग करता है और सब प्राणी मग्न होते हैं।' यथा—'*भए मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे॥*' '*खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोहीं॥*' (२। १२३) '*तिन्ह की ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरिरूप निहारी॥*' (६। ४) इत्यादि। (जलचर, थलचर और नभचर संसारमें यही तीन प्रकारके जीव हैं। तीनोंका एक-एक उदाहरण मानससे ही देकर जना दिया कि सभी प्रभुकी छबि देखकर मग्न हो जाते हैं।) इस तरह '*सबहि*' से जनाया कि इनके रूपमें ज्ञानी, अज्ञानी सभी बराबर (एक समान) मोहित होते हैं, सभीको ब्रह्मानन्दसे अधिक आनन्द प्राप्त होता है। तात्पर्य कि इस अंशमें सब जीव तुम्हारे ही समान हैं। यह बात शब्दोंके अभिप्रायके अन्तर्गत है, स्पष्ट नहीं है।—यह समझकर श्रीरामजी मुसकराये कि जनकमहाराजके समान कोई नहीं है, किंतु मुनिने अपनी युक्तिसे सभी जीवोंको उनके समान कहा। इतने बड़े योगेश्वरको भी सबके समान कर दिया। [और भाव ये कहे जाते हैं—ये तो देहधारीमात्र यावत् चराचर जीव हैं उन सबोंको प्रिय हैं और आप तो 'चैतन्य तत्त्ववेत्ता हैं' तब आपको प्रिय लगे तो कौन आश्चर्यकी बात है? (वै०) जो ब्रह्मानन्द आपको प्रिय है वह सबको प्रिय नहीं है, यथा '*अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥*' और ये तो सभी चराचरको प्रिय हैं। (पं० रामकुमारजी)]

नोट—२ सब प्राणियोंके प्रिय कहकर संकेत किया कि ये प्राणोंके प्राण हैं और प्राणोंके प्राण होनेसे ब्रह्म हैं। इस तरह उनका लक्ष्य श्रीजनकमहाराजको याज्ञवल्क्यजीके, '**प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य**

श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्य ब्रह्म पुराणमग्र्यम्॥' (बृ० ४। ४। १८) (अर्थात् जो उसे प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र तथा मनका मन मानते हैं; वे उस सनातन और मुख्य ब्रह्मको जानते हैं), इस उपदेशकी ओर हैं।

नोट—३ विश्वामित्रजीके ***'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी'*** इस कथनका आशय यही जान पड़ता है कि समस्त प्राणिमात्रको ये प्रिय हैं। जो लोग इनको देखते या सुनते हैं उन्हींको ये प्रिय होते हैं, यह आशय उपर्युक्त वाक्यसे नहीं झलकता; किंतु जो इनको नहीं जानते हैं उनको भी ये प्रिय हैं और कभी भी किसीको अप्रिय नहीं हैं यही ध्वनि मुनिके वाक्यमें है।

इसपर शंका होती है कि 'नित्य हमारे अनुभवमें आ रहा है कि भगवान् प्राय: सबको प्रिय नहीं होते और यदि क्वचित् किसीको प्रिय भी हुए तो प्रायः स्वार्थका सम्बन्ध लेकर ही। तभी तो सब लोग दुःखी हैं। यही आशय गोस्वामीजीके यत्र-तत्रके वाक्योंका है, यथा—***'सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥'*** (२। ४। ७) ***'सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेहु। ताते भवभाजन भएउ सुनु अजहूँ सिखावन एहु॥'*** (वि० ११०) इत्यादि। तब ***'ये प्रिय सबहिं'*****......'** का तात्पर्य क्या है?'

समाधान यह है कि प्रत्येक प्राणीको अविनाशी और अत्यन्त सुख ही प्रिय है, वह निरन्तर उसीके प्रयत्नमें लगा रहता है। वह अविनाशी सुख कहाँ है और कैसे प्राप्त हो सकता है। यह यथार्थ न जाननेसे वह स्त्री-पुत्र, धन-धाम आदि विषयोंमें प्रेम करता है और वह सुख न प्राप्त होनेसे दुःखी होता है। विनयमें भी कहा है, ***'आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥ मृग-भ्रम बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयउ सुख मानी॥'*** (वि० १३६)

महर्षिजीका तात्पर्य यह है कि जो अविनाशी अत्यन्त सुख सब प्राणियोंको प्रिय है, वह ये **'श्रीरामजी'** ही हैं, यथा—***'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा।'*** (१९७। ५-६), ***'ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥'*** (१। २३। ६) ***'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप।'*** (७। ४७), ***'भगत कलपतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुख धाम।'*** (७। ८४)

नोट—४ ***'मन मुसुकाहिं रामु'*** के भाव—(क) कैसी गुप्त रीतिसे मुनीश्वरने मेरा यथार्थ स्वरूप राजाको लक्षित करा दिया, यह समझकर हँसे और हँसीको प्रकट न किया, क्योंकि इससे गम्भीरतामें दोष आता। (पं०) (ख) मनमें मुसकुराये क्योंकि गम्भीर हैं। पुनः भाव कि जब मुनि ऐश्वर्य खोलने लगे तब श्रीरामजी मुसकुराये। भगवान्की मुसकान माया है। मुसकुराये अर्थात् अपनी माया मुनिपर डाल दी। माया डाली जिसमें ऐश्वर्य न खुले। मायाका आवरण पड़ते ही मुनि ऐश्वर्य छोड़कर माधुर्यकी बात कहने लगे। मायाका यह प्रकट प्रभाव देख पड़ा कि कहाँ तो वे ***'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी'*** यह ऐश्वर्य कह रहे थे और कहाँ ***'रघुकुलमनि दसरथ के जाये'*** यह माधुर्य कहने लगे। (पं० रामकुमारजी) जितना रहस्य मुनिजीने खोल दिया इतनेसे ही जनकमहाराज अपने अनुभवानुसार जान गये हैं। अधिक खोलनेसे नरलीला नीरस हो जाती; अतः मनोमय मुसकानसे मायाको प्रेरणा दी। (प० प० प्र०) (ग) प्रकट मुसकानेसे लोग समझेंगे कि अपनी बड़ाई सुनकर प्रसन्न होते हैं। (अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होना दोषमें दाखिल है, यह आत्मश्लाघा दोष कहलाता है।) श्रीरामजी अपनी प्रशंसा सुनकर संकोचको प्राप्त होते हैं, यथा—***'सुनि मुनि बचन प्रेम रससाने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने॥'*** (२। १२८। १) ***'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।'*** (३। ४६) यह सज्जनोंके लक्षण हैं। (पं० रामकुमारजी) (घ) जैसे विश्वामित्रजी जनकजीके ठीक अनुभवसे, श्रीरामजी ब्रह्म ही हैं यह जान लेनेसे, 'बिहँसे' थे, वैसे ही श्रीरामजी हँसे कि इन्होंने हमें जान लिया। कितना ही अपनेको हम क्यों न छिपावें अनुभवी प्रेमी भक्त जान ही लेते हैं। (पं० रामकुमारजी) (ङ) विश्वामित्रजीकी विलक्षण उक्तिकी वाणी सुनकर मनमें मुसकुराये। इस तरह मुनिको जनाया कि इन वचनोंके अभिप्रायमें शुद्ध ऐश्वर्य दर्शित होता है, आप शुद्ध ऐश्वर्य न कहकर माधुर्य देशमें ऐश्वर्य कहिये। मुसकानेका अभिप्राय समझकर मुनि राजाके प्रथम प्रश्नके उत्तरके व्याजसे माधुर्यदेशमें ऐश्वर्य कहने लगे। (वै०)

(च) यहाँ श्रीरामजीके मुस्कुरानेमें ऐश्वर्य न कथन करनेकी व्यंजनामूलक गूढ़ व्यङ्ग है। यदि सच्चा भेद विश्वामित्रजी प्रकाश कर देंगे तो *'रावन मरन मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साँचा॥'* इस कार्यमें उपस्थित होगा। श्रीरामचन्द्रजीके संकेतको समझकर मुनि लोकमर्यादाके अनुसार कहने लगे। यह 'सूक्ष्म अलङ्कार' है। (वीरकवि) (छ) मुस्कुराये जिसमें लोग लड़का जानें। (रा० प०) मनको 'मुसक्यान' मुखचन्द्रकी झलकसे जाना। (रा० प० प०) (ज) जनकजी और विश्वामित्रजी दोनोंकी वाणी सुनकर मुसकराये, यह सूचित करनेके लिये *'मुसुकाहिं'* बहुवचन क्रिया लिखी। (पं० रामकुमारजी) (परंतु बड़े लोगोंके लिये बहुवचन क्रियाका प्रयोग साधारणतः किया ही जाता है।)

रघुकुलमनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए॥ ८॥

दो०—राम लषनु दोउ बंधु बर रूप सील बल धाम।
मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम॥ २१६॥

अर्थ—ये रघुकुलमणि श्रीदशरथजी महाराजके पुत्र हैं। हमारे हितके लिये राजाने इन्हें भेजा है॥ ८॥ राम-लक्ष्मण (नाम हैं) दोनों श्रेष्ठ भाई रूप, शील और बलके धाम (स्थान) हैं। सारा जगत् साक्षी है कि इन्होंने राक्षसोंको संग्राममें जीतकर हमारे यज्ञकी रक्षा की॥ २१६॥

टिप्पणी—१ (क) राजाने बालकोंका कुल पूछा था—*'मुनि कुल तिलक कि नृप कुल पालक।'* इस प्रश्नका उत्तर यहाँ देते हैं। प्रश्नमें *'कुल'* शब्द है, वैसे ही यहाँ उत्तरमें *'कुल'* शब्द है। रघुकुलमणि श्रीदशरथजी हैं। (ख) वहाँ मुनिके सङ्ग आनेसे मुनिपुत्र होनेका संदेह हुआ; इसीपर मुनि कहते हैं कि हमारे साथ ये राजाके भेजनेसे आये हैं। (ग) *'मम हित लागि'* का भाव कि राजाने केवल हमारे हितार्थ, हमारे यज्ञरक्षार्थ ही भेजा था, यहाँ आनेको नहीं, यहाँ तो हम अपनी ओरसे लिवा लाये हैं। (घ) इतने ही शब्दोंमें मुनिने सारी बातें कह दीं। अर्थात् कुल कहा, पिताका नाम कहा, जाति कही ('नरेश' से क्षत्रिय वर्ण जनाया), ऐश्वर्य कहा (रघुकुलमणिसे रघुकुल और उसके मणि दशरथजीका ऐश्वर्य सूचित हुआ), (*'ममहित लागि'* से) आनेका प्रयोजन, दोनोंके नाम (राम-लषन) और छुटाई-बड़ाई (प्रथम ज्येष्ठ, दूसरा लघु), (*'दोउ बंधु'* से) दोनों बालकोंका परस्पर सम्बन्ध, दोनोंके गुण (रूप-शील-बल-धाम) कहे। दशरथमहाराजका ब्रह्मण्य और उदारता कही। (रघुजी आदि सभी रघुवंशी ब्रह्मण्य और दानी होते आये, उनमें भी ये मणि हैं।) तभी तो हमारे हितके लिये ऐसे प्राणप्रिय पुत्रोंको हमारे साथ कर दिया। पुनः *'रघुकुलमनि दसरथके जाये'* कहकर इनको ब्रह्मका अवतार सूचित किया; यथा—*'ते दसरथ कौसल्यारूपा। कौसलपुरी प्रगट नरभूपा॥ तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई।'* (१। १८७) और जनकजी यह बात जानते हैं कि दशरथजीके यहाँ ब्रह्म रामका अवतार होगा—*'यह सब जागबलिक कहि राखा।'* (२। २८५) (ङ) *'मम हित लागि।'* क्या हित किया, यह आगे कहते हैं—*'मख राखेउ······'* [☞ स्मरण रहे कि *'मम हित लागि'* से मुनिने इनको यहाँ अपनी ओरसे लानेका सारा एहसान राजा जनकके ऊपर धर दिया, इसीसे तो राजा कृतार्थ होकर मुनिके चरणोंपर पड़ गये, यथा—*'मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकउँ निज पुण्य प्रभाऊ॥'* (२१७। १) (प्र० सं०)]

टिप्पणी—२ (क) *'राम लषन दोउ बंधु बर'* इति। दोनों रूप, शील और बलके धाम हैं, इसीसे दोनोंको *'बर'* कहा। [*'बंधु बर'* से यह भी जनाया कि ये दोनों सदा साथ रहते हैं, ये दोनों श्रेष्ठ हैं। इनके अतिरिक्त और भी छोटे भाई हैं।] (ख) *'रूप सील बलधाम'* इति। (१) रूपके धाम हैं अर्थात् जो कोई इन्हें देखता है वह मोहित हो जाता है, हम भी मोहे, यथा—*'पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥'* (२०७। ५) आपके सङ्गके सब लोग मोहित हो गये, यथा—*'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता'॥* आप स्वयं मोहित हो गये, यथा—*'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥'* (२) *'सीलधाम'* इति। पिताको छोड़कर गुरु, विप्र वा साधुके

सङ्ग आये और उनका मान रखा, इसीसे शीलधाम कहा, यथा—'*सीलसिंधु सुनि गुरु आगवनू। सीय समीप राखि रिपुदमनू॥ चले सबेग राम तेहि काला॥*' (संग्राममें असुरोंको जीतनेसे बलधाम कहा।) (ग) '*मख राखेउ सब साखि जग*.........' इति। दोनों भाई अति सुकुमार हैं और राक्षस महा घोर, भयावन और कठोर हैं। सुकुमार बालकोंका घोर निशाचरोंको मारना असम्भव प्रतीत होता है, यथा—'*कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा॥*' इनकी सुकुमारता देख सभीको संदेह हो जानेकी सम्भावना है, माताओंने भी संदेह किया है, यथा—'*देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥ मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥ घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिं नहिं काहु। मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु॥*' (३५६) *मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥*' इसीसे सब जगत्‌की साक्षी देते हैं। अर्थात् यह सब बात सत्य है, सारा जगत् जानता है, छिपी हुई नहीं है। मैं कुछ इनके उत्कर्षके लिये ऐसा नहीं कहता, यह बात मिथ्या नहीं है, सभी जानते हैं। (पंजाबीजी)] (घ) '*जिते असुर संग्राम*' कहकर जनाया कि कुछ मन्त्र, यन्त्र, माया वा छलसे नहीं जीता वरंच सम्मुख संग्राम करके उनको मारा।

नोट—१ यहाँ अवतार, नाम, रूप, लीला और धाम चारोंका कथन हुआ। '*दसरथके जाये*' से अवतार, '*राम लषन दोउ बंधु*' से नाम और रूप, '*ममहित लागि नरेस पठाए*' ,'*जिते असुर संग्राम*' से लीला और '*रघुकुलमनि*' से अवधधाम जो रघुकुलकी राजधानी है, कहा। (प्र० सं०)

नोट—२ गीतावलीसे मिलान कीजिये—'*प्रीतिके न पातकी दियेहू साप पाप बड़ो, मख मिस मेरो तब अवध गवनु भो। प्रानहूँ ते प्यारे सुत माँगे दिये दसरथ, सत्यसिंधु सोच सहे, सूनो सो भवनु भो॥*' (१। ६४) '*काकसिखा सिर कर केलि तून-धनु-सर, बालक बिनोद जातुधावनि सो रन भो।*', '*नाम राम घनस्याम लषन लघु नख-सिख अँग उजियारे॥ निज हित लागि माँगि आने मैं धर्मसेतु रखवारे। धीर बीर बिरुदैत बाँकुरे महाबाहु बल भारे॥ २॥ एक तीर तकि हती ताड़का, किये सुर साधु सुखारे। जज्ञ राखि जग साखि तोषि रिषि निदरि निसाचर मारे॥ ३॥*' (पद ६६)

मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकौं निज पुन्य प्रभाऊ॥ १॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँद दाता॥ २॥
इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥ ३॥

अर्थ—राजा बोले—हे मुनि! आपके चरणोंके दर्शन पाकर मैं अपने पुण्योंके प्रभावको नहीं कह सकता (कि मेरा कितना पुण्य है कि जिसके प्रभावसे आपके चरणोंका दर्शन मुझे प्राप्त हुआ और फिर आपके चरणोंके प्रभावसे ही दोनों भाइयोंके दर्शन हुए)॥ १॥ ये श्याम-गौर सुन्दर दोनों भाई आनन्दको भी आनन्द देनेवाले हैं॥ २॥ इनकी परस्परकी पवित्र प्रीति कही नहीं जा सकती, सुहावनी है, मन-ही-मन भाती है॥ ३॥

टिप्पणी—१ '*मुनि तव चरन देखि*.....*कहि न सकौं*।.....' इति। भाव कि (क) बहुत पुण्यसमूह जब एकत्रित होता है तब कहीं सन्तदर्शन होता है, यथा—'*पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।*' [(ख) अपने सुकृतकी सराहनाद्वारा राजाने मुनिकी भी स्तुति-प्रशंसा की कि आपका शुभागमन ही मेरे पुण्योंके उदयको जना रहा है। न जाने कितना बड़ा पुण्य होगा कि आपने आकर दर्शन दिया। यही नहीं किंतु सगुण ब्रह्मका दर्शन कराया। अब मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी हो जानेका विश्वास हो गया। (प्र० सं०) विश्वामित्रजीने शुद्ध ऐश्वर्य गुप्त रखनेके लिये माधुर्य-देशमें ऐसा ऐश्वर्य सुनाया जिसमें राजाका मन स्वार्थ-देशमें आसक्त हो गया। अर्थात् चक्रवर्तीके ऐसे सुन्दर बलवान् बालक हैं तो धनुष अवश्य तोड़ेंगे, हमारी कन्याका जन्म सफल होगा—इस मनोरथसे परमार्थदेशी विचार समूल ही उड़ गया, अब ऐश्वर्य कौन बिचारे, अब तो वे माधुर्यमें डूब गये। (वै०) (ग) '*कहि न सकौं निज पुन्य प्रभाऊ*' इति मिलान कीजिये—'*भूमिदेव नरदेव सचिव परसपर, कहत हमहिं सुरतरु सिवधनु भो॥*' (गी० १। ६४)]

टिप्पणी—२ (क) *'सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता'*.....।' इति (क) राजा दोनों भाइयोंकी सुन्दरतापर मुग्ध और मग्न हो गये हैं, इसीसे बारम्बार 'सुन्दर' कहते हैं, यथा—*'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक'* इत्यादि। (ख) *'आनँदहू के आनँददाता'*— इनकी सुन्दरतासे साक्षात् आनन्दको भी आनन्द प्राप्त होता है। तात्पर्य कि मैं ब्रह्मानन्दका भोक्ता हूँ। आनन्दरूप हूँ, सदा ब्रह्मानन्दमें लवलीन रहता हूँ सो मुझको भी इनके दर्शनसे इनकी सुन्दरता देखकर आनन्द मिला। पुनः, भाव कि पुण्यसे आनन्द मिलता है। बड़े भारी पुण्यसे आनन्दके आनन्ददाता दोनों भाई मिले। सौन्दर्यकी प्रशंसा करके आगे दोनोंकी प्रीतिकी प्रशंसा करते हैं। [*'आनँदहू के आनँद दाता'* के और भाव—(ग) यदि आनन्द स्वयं मूर्तिमान् होकर, रूप धारण करके आवे तो वह भी इनके दर्शनसे आनन्द पावेगा। 'आनन्द' जो वस्तु है वह आपहीसे प्रकाशित है। (घ) ब्रह्मानन्दको भी आनन्द दिया। पुनः आनन्द जो विवाह स्वयंवर है, उसको भी आनन्द देंगे। हमारी प्रतिज्ञा पूर्ण करेंगे, इति भावार्थ। वा, आनन्दरूप जो मेरी कन्या है उसे भी आनन्द देंगे, इति व्यंग्यार्थ।' (बैजनाथजी) (ङ) 'जैसे जगदम्बाके लिये सरकारने *'सुंदरता कहुँ सुंदर करई'* इत्यादि कहा, वैसे ही यहाँ जनकजीने *'आनँद दाता'* इस अभिप्रायसे कहा कि आनन्दको आनन्द बनानेवाले यही हैं। स्वामी रामतीर्थजीने जनकजीकी जिस उक्तिका अनुवाद *'अपने मजेकी खातिर गुल छोड़ही दिये जब। सारे जहाँके गुलशन अपने ही बन गये तब॥'* इत्यादि गजलमें किया है, उसका निचोड़ है *'आनँदहू के आनँद दाता'*। (लमगोड़ाजी) (च) इनके आगे राजाका ब्रह्मानन्द चलता हुआ, अतएव आनन्दके आनन्ददाता कहा, क्योंकि ब्रह्म भी आनन्द-स्वरूप है, यथा—*'आनँद सिंधु मध्य तव बासा।'* (विनय० १३६) **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।'** (तैत्ति० भृगुवल्ली षष्ठ अनुवाक) अर्थात् भृगुने निश्चय किया कि आनन्द ही ब्रह्म है। पुनः भाव यह है कि इन आनन्दमयके आनन्दका लेश पाकर ही सब प्राणी जी रहे हैं। बृहदारण्यक अ० ४ तृतीय ब्राह्मणश्रुति ३२ कहती है—**'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'**] अर्थात् यह उसकी परम गति है, परम सम्पत्ति है, परम लोक है, परमानन्द है। इस आनन्दकी मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं। (इसके आगे ब्रह्मासे लेकर मनुष्यपर्यन्त सभी जीव जिस परमानन्दकी मात्रा अवयवके उपजीवी हैं, उस मात्राके द्वारा उसके अंशी परमानन्दका बोध करनेवाली श्रुतियाँ हैं।)]

प० प० प्र०—*'आनँद दाता'*— यह वचन सिद्धान्त है। श्रीरामजीका दर्शन जिनको हुआ, उन सबोंको आनन्द हुआ ही यह बात नहीं है। प्रभुकी इच्छा जब जिसको जितना आनन्द देनेकी होती है तब उसको उतना ही आनन्द मिलता है। दाताके इच्छानुसार ही लाभ होता है। लंकामें राक्षसोंको कितने दिनतक बार-बार दर्शन हुआ, पर किसीको आनन्द नहीं हुआ। खर-दूषणको किंचिन्मात्रामें हुआ, पर प्रभुने अपनी मायासे उनमें रहने नहीं दिया। इसीसे तो मुनिराज आगे कहते हैं कि *'करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन दिखाइ।'* धनुर्यज्ञमण्डपमें अगणित भूपाल थे पर सबको आनन्द नहीं हुआ।

टिप्पणी—३ *'इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि।'*.....' इति। (क) भाई-भाईमें परस्पर प्रेम होना चाहिये वही अब कहते हैं। यथा—*'भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती॥'* (१५३। ७) *'नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई॥'* (४। ६) (ख) *'पावनि'* अर्थात् छलरहित, यथा—*'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा।'* (४। ५) प्रीतिकी प्रशंसा पवित्र होनेकी ही है, वह पवित्र ही होनी चाहिये। यथा—*'प्रीति पुनीत भरत कै देखी।'* (२९१। २) *'सुमिरि सीय नारद-बचन उपजी प्रीति पुनीत।'* (२२९) तथा यहाँ *'इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि।'* (ग) प्रीति तो भीतरकी वस्तु है' इसे कैसे देखा? प्रीति अन्तःकरणकी वस्तु है, इसे अनुभवसे जाना, इसीसे कहते हैं कि *'कहि न जाइ मन भाव सुहावनि।'* मनमें भाती है, कहते नहीं बनती। स्मरण रहे कि जनकमहाराजने ब्रह्मका भी तो अनुभव मनहीसे किया था—*'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा॥'* वैसे ही उन्होंने हृदयकी प्रीतिका भी मनसे अनुभव किया। [☞ जो अन्तःकरणकी वृत्ति अन्तःकरणका हाल

महीनों भी साथ रहनेपर नहीं जाना जा सकता वह अनुभवी पुरुष देखते ही जान जाते हैं। पर भगवान्‌के सम्बन्धकी बात तो उनके परम प्यारे भक्त ही जान सकते हैं, अन्य नहीं। और वह भी भगवान्‌की कृपासे, उनके जनानेसे—'***सो जानै जेहि देहु जनाई।***' श्रीजनकमहाराज द्वादश प्रधान भक्तराजोंमेंसे हैं। तब भला इनसे कब परदा हो सकता था? भक्तराजों, योगेश्वरोंका अनुभव असत्य नहीं होता। अथवा, मुनिके वचनसे यह तो मालूम ही हो गया कि दोनों भाई हैं, इसीसे दोनोंको भ्राता कहा। और भाइयोंमें प्रीति होती है, इसीसे इनमें '***परस्पर प्रीति***' कही। प्रीतिकी प्रशंसा उसके पावनताकी होती है, अतः '***पावनि***' कहा। रा० प्र० कार लिखते हैं कि '***ध्यान कला ते जोगी देखैं***' और जनक तो योगिराज हैं, यथा— '**योगिनां जनकादयः।**' योगियोंमें भगवान् अपनेको 'जनक' कहते हैं, तब इनको यथार्थ पदार्थका अनुभव क्यों न होता? (घ) '***पावनि***' से पाया जाता है कि कोई प्रीति अपावनी भी होती है। दूध और जलकी प्रीतिको अपावनी कहा है, इससे उसकी उपमा नहीं दे सकते। यथा—'***उपमा राम लषन की प्रीति की क्यों दीजै षीरै नीरै।***' (गी०। ६। १५) क्योंकि औटनेपर उसका नाम 'खोआ' होता है। अर्थात् उसने मित्रको खो दिया। वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ एक गुप्त अर्थ दूसरा भी प्रकट हो रहा है कि इनका परस्परमें प्रेम अर्थात् जो इनसे प्रेम करते हैं उनपर ये भी वैसा ही प्रेम करते हैं 'विवृत्तोक्ति अलङ्कार' है।' (प्र० सं०) (ङ) बैजनाथजी इस अर्धालीका अर्थ और भाव यह लिखते हैं—'इनकी आपसकी प्रीति पावनी है और जैसी सुहावनी है अर्थात् जैसी शोभामय मेरे मनको भाती है वह मुझसे कही नहीं जा सकती। भाव यह कि जैसे इन भाइयोंमें प्रीति है वैसे ही मेरी दोनों कन्याओंमें परस्पर प्रीति है। यदि इनका विवाह उनसे होवे तो इनकी प्रीति शोभामय होवे। यह मनमेंका भाव कैसे कहें।' इति व्यंग्यार्थ।]

सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥ ४॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥ ५॥

अर्थ—विदेहराज आनन्दमें भरकर (फिर) बोले—'हे नाथ! सुनिये! इनका प्रेम ब्रह्म और जीवके समान स्वाभाविक है॥ ४॥ राजा बारम्बार प्रभुको देख रहे हैं। उनके शरीरमें पुलक और हृदयमें विशेष उत्साह और आनन्द है॥ ५॥

श्रीराजारामशरणजी—महाकाव्यकलामें नाटकीयकलाका आनन्द देखा? तुलसीदासजीकी कलाका कमाल यह है कि जब माधुर्यरसपूर्ण नाटकीयकलामें अधिक विकास होगा तो यह महाकाव्यकी उड़ान छिप जायगी और हम राजकुँवररूप ही प्रधान पावेंगे और विश्वामित्रका संकेत है कि इसी रूपमें देखिये। ऊपरवाले नाटकके परदोंका बदलना इत्यादि समझ लेनेके और संकेत साफ हैं।

टिप्पणी—१ (क) '***मुदित***' इति। भाव कि सौन्दर्य देखकर मुदित हुए और प्रीति समझकर भी मुदित हुए। पुनः भाव कि परस्परकी प्रीति पहले कहते न बनती थी—'***कहि न जाइ मन भाव***……।' मनमें अब एक उपमा आ गयी, अतः कहनेके लिये '***मुदित***' हुए। (ख) ☞अपना स्नेह उनमें हो जानेसे दोनों भाइयोंको ब्रह्म कहा था—'***ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा।***' (२१६। २) क्योंकि भगवत्-जनोंका स्नेह ब्रह्महीमें हो सकता है, अन्यमें नहीं। और दोनों भाइयोंमें परस्पर प्रीति होनेसे '***ब्रह्म जीव***' दो कहे। तात्पर्य कि बिना दो हुए परस्पर प्रीति नहीं होती। इसीसे '***ब्रह्म जीव इव***' कहा। इससे पूर्वका सिद्धान्त बना रहा कि दोनों भाई ब्रह्म हैं। जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं—'**जीवो ब्रह्मैव केवलम्**', '***सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥***' [☞इससे केवल यह जनाते हैं कि स्वाभाविक परस्पर प्रीति दोनोंमें कैसी है, न कि यह कि एक जीव है दूसरा ब्रह्म, या ब्रह्म और जीव एक ही हैं। जीव जीव ही है या ब्रह्म यह झगड़ा तो सम्प्रदायोंका चला आता है। श्रीरामनामके दोनों वर्णोंको श्रीराम-लक्ष्मणकी और दोनों वर्णोंके सहज-स्नेहको ब्रह्म-जीवके स्नेहकी उपमा पूर्व दी गयी है। यथा—'***आखर मधुर मनोहर दोऊ।***……***कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लषन सम प्रिय तुलसी के॥ बरनत बरन प्रीति***

बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती॥' (२०। १, ३, ४) वैसे ही यहाँ वही उपमा दी गयी। विशेष वहाँ देखिये।]

बैजनाथजी—'इनका स्नेह स्वाभाविक ही ब्रह्म-जीवके समान है। अर्थात् शुद्ध जीव और ब्रह्ममें जैसा स्वाभाविक ही स्नेह है वैसा इनका है। पर ब्रह्मजीवका स्नेह रूखा है, क्योंकि जब ब्रह्म सशक्ति और जीव सभक्ति हो तब शोभामय होता है। वैसे ही ब्रह्म श्रीरघुनाथजी जब श्रीजानकीसहित हों और लक्ष्मणजी उर्मिलासहित हों तब इनकी भी प्रीति सुहावनी लगे। इति व्यंग्यार्थ।' इसी मनोरथवश राजा पुनः-पुनः श्रीरघुनाथजीको देखते हैं।

टिप्पणी—२ '*पुनि पुनि चितव*……' इति। (क) राजा श्रीरामजीकी शोभामें आसक्त हैं, इसीसे पुनः-पुनः चितवते हैं। पुनः-पुनः प्रभुको देखते हैं, अर्थात् देखनेसे तृप्ति नहीं होती, जी चाहता है कि देखते ही रहें। (ख) '*उर अधिक उछाहू*'—भाव कि पुलकसे जो उत्साह बाहर देख पड़ता है, उससे भी अधिक उत्साह भीतर हृदयमें है। अथवा, भाव कि जितनी बार देखते हैं, उतनी बार पुलक और दर्शनके लिये अधिक उत्साह होता है। इसीसे पुनः-पुनः देखते हैं [अथवा, 'अपने मनोरथके वश राजा बारम्बार देखते हैं। प्रेमकी उमङ्गसे शरीर पुलकित है अर्थात् रोमाञ्च कण्ठावरोध अश्रु आदि प्रकट होते हैं। मनोरथकी पूर्णताके आश्रित उरमें उत्साह अधिक होता जाता है।' (वै०) वा, बार-बार दर्शन करते हैं, मनमें सोचते हैं कि ये सौन्दर्यनिधान हैं, शीलसिंधु हैं, इनकी किशोरावस्था है और इनका कुल भी परम उत्तम है, यथा—'*रूप सील बय बंस राम परिपूरन।*' (जानकीमंगल २९) यदि इनसे विवाह हो जाय तो अत्युत्तम है। मानसमें यहाँ '*प्रभुहि चितव*' शब्द देकर जनाते हैं कि मानसकल्पवाले अवतारमें श्रीजनकमहाराज श्रीरामजीकी प्रभुताको विचारकर पुलकित हो रहे थे। और उनके हृदयमें उत्साह बढ़ता जाता था कि ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे, हम श्रीरामको सीता और लक्ष्मणको उर्मिला ब्याह देंगे। विशेष आगे चौपाई ६ में देखिये। गीतावली और जानकीमंगलवाले कल्पोंमें जनकजी माधुर्यमें डूबे हुए हैं। उनको सोच है। यथा—'*रूप सील बय बंस राम परिपूरन। समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन॥ २९॥ लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनिकै। लै चले*……।' (जानकीमंगल) *सोचत सत्य सनेह बिबस निसि नृपहिं गनत गए तारे।*' (गी० ६६) '*जनक बिलोकि बार बार रघुबर को।*……*सोचत सकोचत बिरंचि हरि हर को।*……' इत्यादि। (गी० ६७) एक टीकाकारने लिखा है कि राजा जनक इनमें प्रभुताका अनुभव करते हैं और प्रमाणमें जानकीमंगलका '*सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥*' (३६) यह उद्धरण देते हैं, पर यह कथन साधु राजाओंका है न कि जनकजीका। साधु राजालोग कुटिल राजाओंको सिखावन दे रहे हैं, यथा—'*सिख देइ भूपनि साधु भूप अनूप छबि देखन लगे।*' (४०) (ग) '*मुदित*' के सम्बन्धसे '*बिदेह*' नाम और '*चितव*' के सम्बन्धसे '*नरनाहू*' शब्द बड़े ही सार्थक हैं।]

मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू। चलेउ लवाइ नगर अवनीसू॥ ६॥
सुंदर सदनु सुखद सब काला। तहाँ बास लै दीन्ह भुआला॥ ७॥
करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गएउ राउ गृह बिदा कराई॥ ८॥

शब्दार्थ—**सेवकाई**=नित्य निर्वाह, उपहारादिकी सुविधा, शुश्रूषा। सेवा।

अर्थ—मुनिकी प्रशंसा (बड़ाई) कर उनके चरणोंमें सिर नवाकर राजा उनको नगरको लिवा ले चले॥ ६॥ सुन्दर सदन (स्थान, महल) जो सब समयमें सुखप्रद था, उसमें राजाने इनको ले जाकर वास दिया (ठहराया)॥ ७॥ सब प्रकारसे मुनिकी पूजा-सेवा करके राजा विदा माँगकर (अपने) घर गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '*मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू*……' इति। प्रशंसा यह कि आप धन्य हैं कि भगवान् आकर आपके सेवक बने। आपकी कृपासे यह दुर्लभ आनन्द हमको भी प्राप्त हो गया, आखिर आप विश्वके मित्र ही तो हैं, ऐसी कृपा करना आपके योग्य ही थी। '*कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा*' उपक्रम

है और '**नाइ पद सीसू**' उपसंहार है। [प्रश्नका उत्तर मिला कृतज्ञ हैं, अतः चरणोंपर सिर रखकर कृतज्ञता जनायी। पुनः, मुनि विरक्त हैं, वनवासी हैं, वे नगरमें रहना कब पसंद करेंगे; अतएव चरणोंमें माथा नवाकर प्रार्थना की कि महलमें कृपया चलकर सबको कृतार्थ कीजिये। (प्र० सं०) अन्य समस्त राजा राजसमाज ठाटसे हैं और इन राजकुमारोंके पास कुछ भी नहीं है, बाहर रहनेसे इनको कष्ट होगा। वैसे ही सब मुनि हैं, किसीके पास कुछ नहीं है। अतः नगरमें ले गये।]

नोट—१ यहाँ यह प्रश्न उठाकर कि 'अमराईमें ही क्यों न रहने दिया। यहीं सब रसद भेजकर सेवा करते?' इसका उत्तर यह देते हैं कि यहाँ सब ऋतुओंमें सुख नहीं मिल सकता, दूसरे यहाँ कैसी भी सेवा क्यों न हो कुछ-न-कुछ त्रुटि बनी ही रहेगी, नगरमें सब प्रकार सुख मिलेगा। पुनः राजाका प्रत्येक दिन इनके लिये अमराईमें पहुँचना कठिन है।

नोट—२ सत्योपाख्यानमें इसका कारण इस प्रकार वर्णित है—(१) राजा बोले कि आज हमारा जन्म, तप, राज्य, मिथिलापुरी और यज्ञ ये सब सफल हुए। आजकी रात्रि सुप्रभाता हुई कि जो आज इन चक्रवर्ती राजकुमारोंका हमारे यहाँ आगमन हुआ। (२) हमारे पूर्वज श्रीनिमिमहाराज इक्ष्वाकुके पुत्र हैं और उस (इक्ष्वाकु) कुलमें इनका जन्म होनेसे ये इक्ष्वाकुजीके तुल्य और पूजनीय हैं, इसमें संशय नहीं।''''''(श्लो० ६—९)। इस तरह कहते और रूपको देखते हुए श्रीजनकमहाराज मोहित हो गये। वे मनमें विचारने लगे कि हमने व्यर्थ प्रतिज्ञा की, हमारी प्रतिज्ञा रहे या न रहे इन्हींको सीता ब्याह दें। फिर मनमें ही कहने लगे, नहीं-नहीं ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे और हमारी प्रतिज्ञा पूरी होगी। (३) फिर यह विचारकर कि परिवारको इनका दर्शन कराना चाहिये, विश्वामित्रजीसे बोले—'यहाँ इनका ठहरना उचित नहीं यह घर तो इक्ष्वाकुवंशहीका है, हम तो इनके एक दास हैं, वहीं चलकर ठहरिये। यथा—**अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः॥ ६॥ अद्य मे सफलं राज्यं पुरीयं मिथिला पुनः। अद्य मे सफलो यज्ञः सुप्रभाता निशा मम॥ ७॥ यस्मादिमौ समायातौ राज राजकुमारकौ। निमिस्तु पूर्वजोऽस्माकमिक्ष्वाकुतनयोऽभवत्॥ ८॥ इक्ष्वाकुकुलजन्मत्वादिक्ष्वाकुसदृशाविमौ। कुले तस्मिन्निमौ जातौ पूजनीयौ न संशयः॥ ९॥ रामरूपं समालोक्य मुमोह जनको नृपः॥ १०॥''''धनुषश्च प्रतिज्ञेयं निरर्था च कृता मया। कन्या चास्मै प्रदेया मे पणस्तिष्ठतु यातु वा॥ १३॥''''''गृहे मम नरा नार्यः पश्यन्तु राम-लक्ष्मणौ। एवं विचार्य राजा तु हृदये मुनिमब्रवीत्॥ १५॥ गम्यतां मद्गृहे स्वामिन् कुमाराभ्यां तपोधनैः॥ १६॥ इक्ष्वाकूणां गृहं चैतद् वयं तेषां च किंकराः। भुज्यतां रमतां तत्र कृपां कृत्वा ममोपरि॥ १७॥**' (उत्तरार्ध अ० ६) (४) रास्तेमें राजा सोचते हैं कि रामचन्द्रजीको जरूर सीताजीको ब्याह देंगे और लक्ष्मणजीको उर्मिला।—इससे '***मुदित***' और '***पुलकगात उर अधिक उछाहू***' इत्यादिके भावोंपर भी प्रकाश पड़ता है।

नोट—३ '***बास लै दीन्ह***' का भाव कि साथ ले जाकर उनको दिखाकर उनकी रुचि लेकर वहाँ वास दिया।

टिप्पणी—२ (क) '***सुंदर सदनु***' अर्थात् स्थानकी बनावट और सजधज सुन्दर है। (किसी-किसीका मत है कि इस स्थानका नाम ही 'सुंदर सदन' है।) (ख) '***सुखद सब काला***' इति। वर्षा, हिम और ग्रीष्म सभी ऋतुओंमें सुखदायक है। सुखद स्थानमें वास देनेसे राजाकी अत्यन्त श्रद्धा पायी गयी कि राजकुमारसहित मुनि हमारे यहाँ सदा बने रहें और हम सेवा करते रहें। ['यदि केवल शीत-निवारक घाममें विश्राम देते तो समझा जाता कि केवल इतने ही समय इनको वहाँ रखनेका विचार है। वा, शरद्-ऋतु है इसमें कभी गर्म जगह और घाम आदिकी भी चाह होती है, इससे ऐसा स्थान दिया जहाँ सब कालका सुख प्राप्त है।' (पं०)] अथवा, यह कार्तिकका महीना है, इसमें दिनमें कुछ गर्मी रहती है, रात्रिमें कुछ जाड़ा रहता है और वर्षाका भी कुछ अंश रहता है, यथा—'***कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी।***' इस तरह इस महीनेमें तीनों ऋतुओंके धर्म कुछ-कुछ रहते हैं। इसीसे 'सब काल सुखद' स्थान दिया। (बैजनाथजी लिखते हैं कि आश्विन शुक्ल १२ को विश्वामित्रजी आये। इस तरह भी शरद्-ऋतु है।)

टिप्पणी—३ '***करि पूजा सब बिधि सेवकाई***''''''।' इति। (क) विश्वामित्रजी प्रसिद्ध तेजस्वी एवं तपस्वी महात्मा हैं और अतिथि हैं। अतिथिकी पूजा करना उचित है, कर्तव्य है। अतः '***करि पूजा***' कहा। '***सब***

बिधि सेवकाई' सब प्रकारकी सेवा अर्थात् भोजनकी सामग्री, आसन, वस्त्र, भृत्य, पूजनकी सामग्री, हवनकी सामग्री, इत्यादि हजारों प्रकारकी सेवा *'सब बिधि'* में कह दी गयी जो मनुष्य कर सकता है। महात्माओंको जो वस्तु दी जाती है वह *'सेवकाई'* (सेवा) कहलाती है, इसीसे *'करि सेवकाई'* कहा। वही जब किसी राजाको देते हैं तो उसे 'जियाफत' कहते हैं। [*'सब बिधि'* दीपदेहली है। *'सब बिधि'* की अर्थात् षोडशोपचार पूजन किया और सब विधिकी सेवा की, जितने प्रकारकी सेवा है सब की, कोई उठा न रखी।] (ख) *'बिदा कराई'* इति। बिना पूछे चले जानेसे सब सेवा नष्ट हो जाती है, व्यर्थ हो जाती है, इसीसे आज्ञा माँगकर गये। आज्ञा माँग लेनेसे मान रह जाता है और बिना पूछे चले जानेसे हृदयको दुःख पहुँचता है कि न जाने बिना मिले क्यों चले गये। इसीसे शिष्ट पुरुष इस शिष्टाचारको बर्तते आये हैं। यथा—*'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दक्षकुमारी॥'*, *'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई॥'* *'जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥'* इत्यादि।

दो०—रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजनु बिश्रामु।
बैठे प्रभु भ्राता सहित दिवसु रहा भरि जामु॥ २१७॥

अर्थ—रघुकुलशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी ऋषियोंके साथ भोजन और विश्राम करके भाईसहित बैठे (तब) पहरभर दिन रह गया था॥ २१७॥

टिप्पणी—१ (क) बड़ोंकी रीति है कि साथमें भोजन करते हैं। भोजन करनेकी यही शोभा है। साथके ऋषियोंके सङ्ग भोजन किया। इससे 'रघुवंशमणि' कहा। (भोजनके पश्चात् कथा-वार्ता होती है सो यहाँ न लिखी, क्योंकि लक्ष्मणजीको नगर दिखाने ले जाना है।) *'बैठे प्रभु भ्राता सहित'* इति। नगर देखनेकी इच्छा है, इसीसे भ्रातासहित बैठे, (नहीं तो ऋषियोंसहित बैठना कहते,) भाईकी लालसा लखकर नगर देखने जायेंगे। (ग) *'दिवसु रहा भरि जामु'* इति। भाव यह कि घूमने और नगरके बाजार आदि देखनेका उचित अवसर पहरभर दिन रहे अर्थात् चौथे पहर ही होता है, वही चौथे पहरका अब समय है। ☞यहाँतक चारों पहरोंकी दिनचर्या कह दी—प्रथम प्रहरमें पूजा, दूसरेमें भोजन, तीसरेमें विश्राम और चौथेमें नगरदर्शन।

नोट—१ यहाँ महाराज जनककी सेवा-निपुणता दिखाते हैं। आज ही मुनि अमराईमें जाकर ठहरे, राजा जाकर मिले, मुनिको साथ ले जाकर अन्तःपुरमें ठहराया······फिर भी भोजन-विश्राम करनेपर एक पहर दिन बच रहा। २ ☞नगर-दर्शनकी भूमिका यहाँसे उठायी गयी है। ३—पाण्डेजी लिखते हैं कि 'ऋषि यहाँ मुख्य हैं और रघुनाथजी गौण हैं—(औरोंके मतसे श्रीरामजी मुख्य हैं, ऋषि गौण हैं;) अतः उनके साथ भोजन-विश्राम करना कहा। दूसरा अर्थ काकोक्तिसे यह होता है कि रघुवंशमणि होके ऋषिके सङ्ग भोजन और विश्राम किया। तीसरा अर्थ यह कि जबसे रघुनाथजीने यज्ञरक्षा करने और राक्षसोंको मारनेके निमित्त ऋषियोंका पक्ष लिया है तबसे ऋषियोंके संगमें भोजन-विश्राम करनेका अवसर अब मिला, सो करके लक्ष्मणसहित बैठे।' पुनः 'इस दोहेमें चार उपयोगी उपशास्त्रोंका उपयोग है, ऋषय-शब्द बहुवचन है और व्याकरणकी रीतिसे सिद्ध होता है—'**ओत्वं लुक् च विसर्गस्य**—इस सूत्रसे विसर्गका लोप हुआ (अतः 'ऋषय' से व्याकरण); दूसरे पद *'करि भोजन बिश्रामु'* में वैद्यक-शास्त्र क्योंकि भोजन करके विश्राम करनेमें आरोग्यता होती है; तीसरे पद *'बैठे प्रभु भ्राता सहित'* में नीति और चौथे पद *'दिवसु रहा भरि जामु'* में ज्योतिष-शास्त्रका उपयोग वा समावेश है।' (पाण्डेजी) ४—सत्योपाख्यानके अनुसार उस दिन मुनिसहित श्रीराजकुमारोंने महलमें भोजन किया था। ५—रा०प्र० ने *'रिषय'* से केवल विश्वामित्रका अर्थ ग्रहण किया है।

लषन हृदय लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइअ देखी॥ १॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहि मुसुकाहीं॥ २॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें बड़ी लालसा है कि जाकर जनकपुर देख आवें॥ १॥ प्रभुका डर और फिर (उसपर भी) मुनिका संकोच है। मन-ही-मन मुसकरा रहे हैं, प्रत्यक्ष कहते नहीं हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'लखन हृदय लालसा……'* इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें लालसा हुई। लक्ष्मणजी लड़के हैं, छोटे हैं। उनके हृदयमें नगरदर्शनकी लालसा होना योग्य ही है। लड़कोंको ऐसी लालसाका होना शोभा देता है। इसीसे लक्ष्मणजीके हृदयमें लालसाका होना कहा, श्रीरामजीमें नहीं। बाहरसे नगरकी (अर्थात् नगरके बाहरकी) शोभा देखी है और उससे विशेष हर्ष हुआ है, यथा—*'पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी॥'* (२१२। ५) विशेष हर्ष हुआ, इसीसे नगर (अन्त:पुर) के देखनेकी विशेष लालसा हुई। (बाहरकी इतनी शोभा है तो भीतरकी रमणीयता न जाने कैसी होगी, यह समझकर विशेष लालसा हुई।) पुन:, (ख) श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें 'विशेष' लालसा है, इस कथनसे यह भी इङ्गित किया कि श्रीरामजीके हृदयमें भी नगरदर्शनकी लालसा है, पर सामान्य है, साधारण है। पुन: [(ग) *'बिसेषी'* शब्द आवश्यकता और आधिक्यको प्रकाशित करता है—इतनी उत्कट (उत्कृष्ट) इच्छा उठी कि लक्ष्मणजीके हृदयमें न रुकी, उमड़कर नेत्र, भौंह आदिमें झलक आयी, क्योंकि आगे कहते हैं कि *'राम अनुज मन की गति जानी।'* मन निराकार है, उसकी गति ऊपरके अंग-भावसे ही पहचानी जाती है। यथा—**'आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां ज्ञायतेऽन्तर्गतं मन:॥'** (सु० र० भा० राजनीति प्र० २२६) अर्थात् मनका भाव आकार, इङ्गित (इशारा), गति, चेष्टा (हाव-भाव), भाषण तथा नेत्र और मुखसे विकारोंद्वारा जाना जाता है। (पं० रा० च० मिश्र) (घ) 'पहले सामान्य देखा है अब विशेष देखनेकी लालसा है। अथवा 'विशेष' का भाव कि अवश्य जाकर देख आवें।' (पा०) पुन:, (ङ) 'नये नगरके देखनेकी लालसा सबको होती है, उसपर भी देश-देशके राजा आये हैं, उनके साथ अनेकों रंगके पदार्थ आये हैं, इससे विशेष लालसा होती है।' (रा० प्र०) (च) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मिथिलानगर ऐसा मनोहर और सुखद है कि उसने रघुवंशियोंके मनको भी चञ्चल कर दिया। जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों ओर शोभावलोकनकी अभिलाषा हो वहाँ 'लालसा' कही जाती है, **'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च सोऽत्यर्थलालसा द्वयोरित्यमर:। लालसा द्वयो: स्त्रीपुंसयोरित्यर्थ:।'** (परंतु **'लालसा द्वयो:'** का अर्थ यह है कि 'लालसा शब्द स्त्रीलिङ्ग-पुँल्लिङ्गमें चलता है।') (छ) प्रभु किसी आचार-विचार या बहुत भजन आदिसे नहीं रीझते हैं। जनकपुरवासियोंके मनमें आपके दर्शनोंकी बड़ी लालसा है। उन्होंने आपके चित्तको आकर्षित कर लिया है, लक्ष्मणजीको लालसा तो केवल बहाना है। इसीलिये मुनि आगे कहते हैं कि जाओ और *'करहु सुफल सबके नयन।'* (श्रीजानकीशरणजी)]

टिप्पणी—२ *'प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।'* इति। (क) कथाका समय है। कथा और ऋषियोंका सत्संग छोड़कर नगरका दर्शन करने जाना, यह संकोचकी बात है। इसीसे यहाँसे सब जगह *'सकुच'* लिखते हैं। यथा—*'प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।'* (यहाँ), *'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु अनुसासन पाई॥'* (चौ० ४) *'प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं।'* (चौ० ५) *'सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।'* (२२५) (श्रीरामजीने भी सकुचाते हुए कहा और यह संकोच नगरदर्शनके पश्चात् भी रहा।) (ख) प्रभुका भय कहा क्योंकि स्वामीका भय मानना ही चाहिये। और बड़ेका संकोच करना ही चाहिये, इसीसे *'मुनिहि सकुचाहीं'* कहा। [(ग) श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं। वे अपने कर्मद्वारा समस्त प्राणियोंको उपदेश दे रहे हैं कि स्वामीका भय सेवकको सदा एकरस रहना चाहिये, यथा—*'सुत की प्रीति प्रतीति मीतकी नृप ज्यों डर डरिहैं।'* (विनय २६८) लक्ष्मणजीमें यह गुण बराबर दिखाया गया है, यथा—*'कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।'* (३५२) *'लषनु राम डर बोलि न सकहीं।'* (२६७। ८) इत्यादि। (घ) प्रभु-भय इससे कहा कि सेवक-सेव्य-भावकी मर्यादाका भार प्रबल है। (रा० च० मिश्र) (ङ) *'प्रभु भय'* से भ्रातृस्नेह दर्शित किया है। (च) बैजनाथजीका मत है कि उत्तम सेवक होकर धर्मधुरीण स्वामीसे असत् कामना कैसे कहें, यह प्रभुका भय है। (छ) *'मुनिहि सकुचाहीं'* का भाव कि मुनि हमारी चपलतासे रुष्ट हो जायँगे और मुनि बड़े हैं, महात्मा हैं, गुरु हैं, उनका अदब करना ही चाहिये, अत: *'मुनिहि सकुचाहीं'* कहा। (रा० च० मिश्र) *'मुनिहि सकुचाहीं'* कहकर इनकी

गुरुभक्ति दर्शित की है। (पं०) पुनः, (ज) प्रभुका भय कि कहीं डाँट न दें कि अयोध्याजीसे नजाराबाजी ही करनेके लिये यहाँ आये हो। और मुनिका संकोच कि वे यह न कहें कि तुम क्यों अपना स्वरूप दिखाने जाते हो, हम तो तुम्हारे ही मनोरथकी पूर्तिके लिये तुम्हें यहाँ लाये ही हैं। (रा० प्र०)] (झ) विशेष प्रभुका भय है (अर्थात् प्रभुका भय मुख्य है) इसीसे 'प्रभु भय' को प्रथम कहा। बहुरि=पुनः, फिर। मुनिका संकोच सामान्य है, इससे उसे पीछे कहा।

टिप्पणी—३ *'प्रगट न कहहिं मनहि मुसुकाहीं'* इति। (क) *'प्रगट न कहहिं'* अर्थात् वचनसे नहीं कहते। यहाँ दो बातें लिखते हैं—एक तो प्रकट कहते नहीं, दूसरे मनमें मुसकाते हैं। *'मन मुसुकाहीं'* से जनाया कि प्रभुका इतना भय है कि मुसकान भी प्रकट नहीं है। भय और संकोचवश प्रकट नहीं करते और मनका मनोरथ जनानेके लिये मनमें मुसकाते हैं। [मनहीमें मनोरथका वेग रोककर मुसकाकर रह जाते हैं। लाज और भयरूप संपुटमें वाणी बंद है। (वै०)। मनोविकाश ही वस्तुतः हास है, दन्तविकाश नहीं।]

राम अनुज मनकी गति जानी। भगत बछलता हिय हुलसानी॥ ३॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु अनुसासन पाई॥ ४॥

शब्दार्थ—भगत बछलता (भक्तवत्सलता)='**आश्रितदोषभोक्तृत्वं वात्सल्यमिति केचन। आश्रितागस्तिरस्कार-बुद्धिर्वात्सल्यमित्यपि॥ वत्सः स्नेहगुणः स्थेयांस्तद्वाता वत्सलो हरिः।** (इति भगवद्गुणदर्प') (वै०) तुरतके पैदा हुए बछड़े या बछियापर जो उसकी माता (गऊ) का स्नेह रहता है उसे वत्सलता वा वात्सल्य कहते हैं। वत्सका अर्थ है छोटा बछड़ा वा बच्चा। गाय अपने नये ब्याये हुए बच्चेके मल आदिको चाटकर उसे शुद्ध करती है। इसी प्रकार श्रीरामजी अपने आश्रित भक्तोंके दोषोंको स्वयं भोग लेते हैं अथवा उनके दोषोंपर दृष्टि न देकर उनके दोषोंको नष्टकर उनको शुद्ध कर लेते हैं; अथवा जैसे नेहवती गाय तुरत ब्याये हुए बच्चेका संग नहीं छोड़ती; वैसे ही प्रभु अपने स्नेही भक्तोंके संग लगे रहते हैं। यही भक्तवात्सल्य गुण है। हुलसाना=आनन्दसहित उमग वा उमड़ आना।

अर्थ—श्रीरामजीने भाईके मनकी गति (दशा, हाल) जान ली। उनके हृदयमें भक्तवत्सलता उमड़ आयी॥ ३॥ वे अत्यन्त नम्रतासे, सकुचाते हुए, मुस्कुराकर और गुरुजीकी आज्ञा पाकर बोले॥ ४॥

श्रीलमगोड़ाजी—हास्यरसमें हर्ष, लालसा और संकोचके संघर्षवाली मुस्कानकी सूक्ष्मताको विचारिये और कविकी कलाको सराहिये। प्राकृतिक सौन्दर्यानुभव, *'देखन फुलवारी'* इत्यादिमें कराके अब कवि उसमें नागरिकताका विकास कराना चाहता है।

टिप्पणी—१ *'राम अनुज मनकी गति जानी।……'* इति। (क) 'राम' पद साभिप्राय है। **रमत इति रामः।** (जो सबमें रम रहा है, सबके हृदयमें बसता है, वह मनकी गति जानेगा ही, उसका जानना योग्य ही है) *'स्वामि सुजान जान सबहीकी। रुचि लालसा रहनि जन जीकी'* (२। ३१४) *'सबको प्रभु सब मो बसै सबकी गति जान।'* (विनय १०७) ऐसे स्वामी श्रीरामजी हैं, इसीसे मनकी गति जान गये। क्या गति जानी? यह आगे कहते हैं—*'लखन पुर देखन चहहीं।……'*। (ख) *'भगत बछलता हिय हुलसानी'* इति। श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें नगर-दर्शनकी लालसा हुई, अतः श्रीरामजीके हृदयमें नगर दिखलानेकी इच्छा हुई; क्योंकि *'राम सदा सेवक रुचि राखी।'* यही भक्तवत्सलता है जो हृदयमें हुलसी है। पुनः, 'श्रीलक्ष्मणजीके मनकी गति देखकर भक्तवत्सलता हुलसी' इस कथनमें तात्पर्य यह है कि (उनके मनकी इस समयकी गति ऐसी ही है कि जिससे भक्तवत्सल भगवान्को अपने परम भक्तका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये परमोत्साहपूर्वक मजबूर होना पड़ता है) उनके मनकी गति भक्तवत्सलताको हुलसानेवाली है। *'प्रभु भय'' 'बहुरि मुनिहि सकुचाहीं'' 'प्रगट न कहहिं'* और *'मनहि मुसुकाहीं।'* (अर्थात् प्रभुका भय मानना, मुनिका संकोच करना इत्यादि) यही लक्ष्मणजीके मनकी गति और भक्ति प्रभुके भक्तवात्सल्यगुणको हुलसानेवाली हुई। हमारा इतना लिहाज, अदब, संकोच रखते हैं, कि प्रत्यक्ष नहीं कहते, यह समझकर प्रभुने सोचा कि इनका मनोरथ अवश्य पूर्ण करना चाहिये। [पुनः, *'भगत बछलता हुलसानी'* का दूसरा

भाव मिथिलापुरवासी भक्तवत्स (बछड़े) के समान हैं जो कर्मरूपी रस्सीमें बँधे श्रीरघुनाथजीके दर्शनरूपी दूधके अभिलाषी हैं, उनको भी तृप्त करनेकी इच्छा हृदयमें उमड़ी। (पां०) इस भावार्थकी पुष्टि *'करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ।'* (११८) से होती है।]

टिप्पणी—२ *'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई।'*...... इति। (क) लक्ष्मणजीमें *'परम'* शब्द नहीं दिया था, *'प्रभुभय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं'* इतनामात्र कहा था और श्रीरामजीमें *'परम'* पद देते हैं। तात्पर्य कि श्रीरामजीमें नम्रता, शील और संकोच आदि गुण सब भाइयोंसे अधिक है, यथा—*'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'* (१९८। ६) (ख) श्रीलक्ष्मणजीका अभिप्राय उनके मनकी मुसकानसे श्रीरामजी जान गये और श्रीरामजीका अभिप्राय उनके प्रकट मुसकानसे मुनिने जाना। श्रीरामजी लक्ष्मणजीके मनकी गति जान गये पर रामजीके मनकी (एवं लक्ष्मणजीके मनकी भी) 'गति मुनि स्वतः न जान पाये' श्रीरामजीके कहनेसे जानी। [(ग) ☞ प्रभु लक्ष्मणजीके मनका भय, संकोच और मुसकान तीनोंको जान गये, पर मुनि उनके हृदयकी न जान सके। इससे ईश्वर और जीवमें भेद दिखाया। इसी प्रकार सतीके कपट-वेष और हृदयकी गतिको श्रीरामजी स्वतः जान गये थे और शंकरजी न जान पाये, जब ध्यान किया तब सतीजीने जो किया था उसे जान पाये थे। *'परम'* विनीत और सकुचि दोनोंके साथ है। (घ) रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि 'तीनों वाणियोंकी विकृतिका भाव ऊपर अंगोंमें भासता है। मन तो निराकार पदार्थ है, उसका मुसुकाना कैसे? उत्तर, मनकी प्रसन्नताका बाह्य अंग चेष्टामें विकास होना ही मुसुकाना है। लक्ष्मणजीका मन रामजीके पास रहता है, अतः *'राम अनुज मनकी गति जानी',* किंतु मुनि नहीं जाने।' (ठीक है, पर इसमें संदेह होता है कि जिनका मन रामजीके पास नहीं रहता, उनके मनकी रामजी न जानते होंगे। वे तो सदा सब हालतोंमें सबके मनकी जाननेवाले हैं।) (ङ) मिश्रजीका मत है कि 'प्रभुके नम्रता, संकोच और मुस्क्यान—इन तीन प्रकारसे सूचना देनेपर भी मुनि उनके हृदयकी न जान सके, तब प्रभुने आज्ञा पाकर वचनद्वारा प्रकट किया।' (च) ये तीनों गुण सरकारमें सदा बसते हैं, पर आज जो भक्तवत्सलता हृदयमें हुलसी उसने तीनों गुणोंमें *'परम'* यह विशेषण लगा दिया। अर्थात् और दिनोंसे आज ये तीनों अधिक हैं। (पाण्डेजी) 'इसी चौपाईके उत्तरार्द्धसे सूचित होता है कि गुरुजीने इन तीनों गुणोंकी विशेषतासे मुग्ध होकर कहा है—'रामजी! क्या कुछ इच्छा उठी है (तब सरकार बोले)।' (रा० च० मिश्र) पुनः, (छ) *'परम बिनीत सकुचि''''पाई'* का भाव 'अति नम्र होकर अर्थात् दृष्टि नीचे करके मुसकराये तब मुनिने कहा कि क्या मनमें आयी है जो मुसुकाते हो, तब रघुनाथजी बोले।' (रा० प्र०) मुस्कुराहटका अर्थ ही है कि कुछ कहना चाहते है—**'स्मितं पूर्वाभिभाषी च'**]

नाथ लषन पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥५॥
जौं राउर आयेसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ॥६॥

अर्थ—हे नाथ! लक्ष्मणजी नगर देखना चाहते हैं। हे प्रभो! (आपके) संकोच और डरसे प्रकट नहीं कहते ५॥ जो मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो मैं उनको शीघ्र नगर दिखाकर ले आऊँ॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'नाथ लषन पुरु देखन चहहीं।'*...... इति। (क) लक्ष्मणजीने पुर देखनेकी इच्छा वचनद्वारा प्रकट नहीं की, अतः यह निश्चय हुआ कि *'पुरु देखन चहहीं'* यह उनके मनकी एक गति है जो प्रभुने जान ली। दूसरी गति जो जानी वह उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि *'प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं।'* नगरदर्शनकी लालसा, भय और संकोच सभी जान गये। (ख) लक्ष्मणजीने तो प्रभुका भय माना था, यथा—*'प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं'* परंतु श्रीरामजी भय और संकोच दोनोंको मुनिके प्रति ही लगाते हैं, अपना भय मानना नहीं कहते, इसमें भाव यह है कि अपना डर कहनेसे अपनी बड़ाई सूचित होती, दूसरे अपना भय और गुरुका संकोच कहनेसे गुरुकी बराबरी होती है, इस तरह कि हमसे डरते हैं और आपका संकोच करते हैं (एक बात हमारे प्रति है और एक आपके प्रति है, यही बराबरीका दोष है)। लक्ष्मणजीके भावसे यही पाया जाता है कि दोनोंको बराबर मानते हैं (उसमें

भी रामजीको विशेष। इसीसे *'प्रभु भय'* प्रथम है)। अतः भय और संकोच दोनों गुरुके कहे, अपना न कहा।

नोट—१ पूर्व *'प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं'* कहा, और यहाँ *'प्रभु सकोच डर'* कहा। *'प्रभु'* को सम्बोधन मान लेनेसे 'संकोच और डर' को दोनोंमें भी लगा सकते हैं। ऊपरसे तो यह अर्थ स्पष्ट है कि आपका संकोच और डर है और दूसरा अर्थ लक्ष्मणजीके मनकी गतिके अनुसार भी हो जाता है। यह शब्दोंके प्रयोग और योजनाका कमाल है। इस तरह 'प्रभु' का संकोच अर्थात् मुनिका संकोच और प्रभुका डर अर्थात् अपने स्वामीका डर भी आ गया। श्रीमिश्रजी लिखते हैं 'यहाँ 'प्रभु' शब्दसे रामजीने *'सकोच डर'* दोनों मुनिपर घटाये और अपने प्रभुत्व और ऐश्वर्यको दबा लिया। पुनः, पहले प्रभुभय प्रधान, पीछे मुनिका संकोच सामान्य कह आये हैं और अब यहाँ उसका विपर्यय है, क्योंकि लक्ष्मणजीका भाव देख रामजी प्रसन्न हैं, अतः *'प्रभु भय'* चला गया और 'मुनि-संकोच' प्रधान और उन्हींका डर गौण हो गया।' श्रीबैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'प्रभो! आपके संकोच और हमारे डरसे नहीं कहते।

नोट—२ रा० च० मिश्रका मत है कि 'यहाँ *'नाथ'* शब्द श्लेषमें है। प्रथम तो गुरुजीके लिये सम्बोधन है, दूसरे, *'लषन'* के साथ सम्बन्धित है कि 'नाथ के सहित लषन'।

श्रीराजारामशरणजी—भाव-विकासकी सरलतामें यह सोच-विचार नहीं होता। श्रीरामजीके सरल हृदयमें यही अनुभव होता है कि संकोच और डर गुरुका है। 'मुसकराहट' की मानो श्रीरामजी यह व्याख्या करते हैं कि हमसे तो कोमल संकेत कर दिया मगर स्पष्ट नहीं कहा, इसका कारण गुरुका संकोच और डर है। दोनों ओरके भावोंका निरीक्षण कितना सुकुमार है। वास्तविकता और अनुमानका अन्तर ही नाटकीय कलाकी जान है। हाँ, सरलतामें शिष्टाचार आप ही निभ गया।

टिप्पणी—२ *'जौं राउर आयेसु मैं पावउँ।……'* इति। (क) श्रीरामजी सब काम श्रीगुरुजीकी आज्ञासे करते हैं यथा—*'निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्या बंदनु कीन्हा॥'* (२२६। १) *'बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥'* (२२६। ६) *'समय जानि गुरु आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥'* (२२७। २) *'बिगत दिवसु गुर आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥'* (२३७। ६) *'करि मुनिचरन सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥'* (२३८। ५) इत्यादि। इसीसे यहाँ भी आज्ञा माँगते हैं। (ख) *'आयसु मैं पावउँ' 'तुरत लै आवउँ'* से अपने लिये भी आज्ञाका माँगना पाया जाता है। अपने लिये आज्ञा माँगनेका कारण यह है कि लक्ष्मणजी लड़के हैं, उनको अकेले जानेकी आज्ञा नहीं हो सकती। अतः अपने सहित जानेकी आज्ञा माँगते हैं जिसमें आज्ञा मिल जाय। [देखिये, यहाँ कैसी युक्तिसे कहा कि गुरुको आज्ञा देते ही बने। सोचे कि यदि हम अपने लिये भी आज्ञा नहीं माँगते कि साथ जायँगे तो मुनि समझेंगे कि रामजीका मन नगरमें जानेका नहीं है, अतएव वे हमको जानेको न कहेंगे और बिना हमारे लक्ष्मणजीको अकेले जानेकी आज्ञा न होगी, अतएव *'आयेसु मैं पावउँ'* इत्यादि कहा। फिर दिन थोड़ा है, नगर बड़ा है और विलक्षण है, देखनेमें विलम्ब हो जाना साधारण बात है। अतएव कहते हैं कि *'देखाइ तुरत लै आवउँ'* अर्थात् दिखाकर शीघ्र ही लौट आवेंगे, देर न होगी। *'देखाइ'* और *'लै आवउँ'* से स्पष्ट जना दिया कि हम स्वयं ही साथ जाना चाहते हैं। *'नगर देखाइ'* से विलम्ब सूचित होता है क्योंकि नगर बड़ा है; अतः *'तुरत लै आवउँ'* कहा, जिससे रोकें नहीं।]

नोट—३ बैजनाथजी *'जौं राउर अनुसासन……पावउँ'* का भाव यह लिखते हैं कि 'यदि उनको अकेले भेजा जायगा तो बालस्वभावसे कहीं देर न लगा दें, जिससे आपको और मुझको चिन्ता हो जायगी, इससे आपकी आज्ञा हो तो मैं साथ चला जाऊँ……।'

नोट—४ यहाँ लक्ष्मणजीकी इच्छाके बहाने आज्ञा माँग रहे हैं, यद्यपि उनकी स्वयं नगर देखनेकी इच्छा है। अतः यहाँ 'द्वितीय पर्यायोक्ति अलङ्कार' है। (वीरकवि) यथा—*'मिस करि कारज साधिये जो हित चितहि सोहात।'*

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥ ७॥
धरमसेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥ ८॥

अर्थ—(श्रीरामजीके वचन) सुनकर मुनिराजने प्रेमसहित (ये) वचन कहे—हे राम! तुम क्यों न नीतिकी रक्षा करो!॥ ७॥ हे तात! तुम धर्मकी मर्यादाके पालन करनेवाले हो। सेवकोंके प्रेमके विशेष वश हो, उनको सुख देनेवाले हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) [*'मुनीसु'* का भाव कि अन्य मुनियोंको यह माधुर्यसुख प्राप्त नहीं है जो आज इनको प्राप्त है। (रा० च० मिश्र)] (ख) *'कह बचन सप्रीती'* इति। तात्पर्य कि श्रीरामजीके धर्मनीतिके वचनको सुनकर मुनिराज प्रेममें मग्न हो गये, अत: जो वचन उनके मुखसे निकले, वे प्रेमसे भरे हुए हैं। [अथवा, श्रीरघुनाथजीने नगरमें जानेकी आज्ञा माँगी है। उसमें कुछ कालका वियोग जानकर प्रीतिसे भर गये। अत: *'कह बचन सप्रीती।'* (पाँ०) वा, श्रीरामजीकी परम नम्रता देखकर अथवा उनका ऐश्वर्य विचारकर प्रीतिसहित बोले। (पं०) वा, श्रीरामजीकी भक्ति देखकर वात्सल्यभाव उमड़ पड़ा अत: 'प्रीति सहित' बोले। (पं० रामकुमार) वा, श्रीरामजीके अनेक अभिप्रायमय वचन सुनकर त्रिकालज्ञ मुनि सब जान गये, अत: अभिप्रायमय वचन प्रीतिसहित बोले। (वै०) श्रीरामजी नीति और धर्मयुक्त वचन बोले जैसा मुनि आगे कहते हैं, इसीसे मुनि सप्रेम बोले। यथा—*'धरम धुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ग्यानी'* (३। ६) (ग) *'कस न राम तुम्ह राखहु नीती'* इति। भाव कि तुम नीतिके यथार्थ ज्ञाता हो, यथा—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* (२। २५४) परम नम्रता, बड़ोंका संकोच और आज्ञा पाकर बोलना, यह सब नीति है। इस नीतिकी रक्षा की, इसीसे मुनिने श्रीरामजीकी प्रशंसा की। (घ) ☞देखिये, श्रीलक्ष्मणजीकी जैसी भक्ति देखकर श्रीरामजीके हृदयमें भक्तवत्सलता हुलसी, उसी प्रकारकी श्रीरामजीकी भक्तिको देखकर मुनि उनकी प्रशंसा करने लगे—जैसे लक्ष्मणजीमें—*'प्रभु भय' 'मुनिहि सकुचाहीं'* और *'मुनिहि मुसुकाहीं'* देख श्रीरामजी प्रसन्न हुए वैसे ही श्रीरामजीमें—*'परम बिनीत'* और *'मुसुकाई', 'अनुसासन पाई बोले'* देख मुनि प्रसन्न हुए।

टिप्पणी—२ *'धरमसेतु पालक तुम्ह ताता'*……।' इति। (क) गुरुकी आज्ञाका पालन करना धर्म है, यथा—*'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥'* (१। ७७। २) तुम धर्मसेतुपालक हो अर्थात् सदा सनातनधर्मका पालन करते हो और तुम्हारे ऐसा करनेसे आगे भी धर्मका पालन होता रहेगा, सब लोग इस धर्मका पालन करते रहेंगे। यथा—*'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥'* (२। ३२३) (यह श्रीवसिष्ठजीने भरतजीसे कहा है।) भाव यह कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं अन्य पुरुष भी उसीके अनुसार बर्तते हैं, यथा—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥**' (गीता ३। २१) और श्रीरामजीका मर्यादापुरुषोत्तम अवतार ही लोककी शिक्षाके लिये हुआ, न कि केवल रावणवधके लिये। यथा—'**मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः॥**' (भा० ५। १९। ५) इस श्रीहनुमद्वाक्यकी ओर संकेत करते हुए 'धर्मसेतुपालक' कहा।—यही धर्मसेतुका पालन करना है। पुनः ['धर्मसेतुपालक' के और भाव कि (ख) स्वतन्त्र होते हुए भी परतन्त्रता दिखाकर आज्ञा माँगी। (ग) मुनि अपनी त्रिकालज्ञतासे होनहार सूचित करा रहे हैं कि जिस पुरमें जा रहे हो उसमें कुछ अधर्म आ रहा है—राजाकी प्रतिज्ञा कोई राजकुमार नहीं पूरी कर सकेंगे, जिससे राजा असमंजससे धर्मसंकटमें पड़ेंगे, यथा—*'सुकृत जाइ जो पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥'* (२५२। ५) और आप धर्मसेतुपालक हैं, यह भार आपहीको सँभालना होगा। (पं० रा० च० मिश्र) (घ) भवसागरके पार जानेका जो धर्मसेतु है उसके आप रक्षक हैं। (वै०) (ङ) ब्राह्मणों और सन्तोंको सदा बड़ाई देते आये हो, इसीसे हमको बड़ाई दे रहे हो। (रा० प्र०) इसीसे मुनीश्वरोंका मान रखना तुम्हें योग्य ही है। (पं०)]

टिप्पणी—३ *'धरमसेतु पालक''''प्रेम बिबस सेवक सुखदाता'* इति। ये सब विशेषण साभिप्राय हैं। भाव कि (क) धर्मसेतुपालक हो, इसीसे गुरुकी आज्ञाका पालन करते हो। प्रेमविवश हो इसीसे हृदयमें भक्तवत्सलता

हुलसी, सेवकसुखदाता हो इसीसे लक्ष्मणजीके लिये प्रार्थना करते हो। (ख) *'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥'* यह नीति है; *'जौं राउर आयसु मैं पावउँ'* यह धर्म है; *'नाथ लखन पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥'* यह प्रेमकी विवशता है (लक्ष्मणजीके प्रेमके वश हैं, इसीसे लक्ष्मणजीके लिये प्रार्थना करते हैं), और *'नगर देखाइ तुरत लै आवउँ।'* यह सेवक-सुखदातृत्व है। पुनः, (ग) धर्मसेतुपालक होनेके कारण आज्ञा माँगते हो और *'प्रेम बिबस सेवक सुखदाता'* होनेसे लक्ष्मणजीके प्रेमवश होकर उनको सुख देना चाहते हो।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'धर्मसेतुपालक हो अर्थात् भवसागर पार जानेके सेतुके रक्षक हो। प्रेमविवश हो अर्थात् जो निष्काम भक्त हैं उनके विशेष वश हो। सेवक सुखदाता हो अर्थात् जो आर्त्त-सेवक हैं उनको सुखरूप हो, उनके दुःख मिटाकर उन्हें सुखी करते हो और जो अर्थार्थी हैं उनको अर्थदायक दातारूप हो। अभिप्राय यह कि जब जनकजीके मन्दिरमें भोजन करने गये तब राजकुमारोंके संग तो ऋषियोंका समाज था और वहाँ जनकादि गुरुजनोंका समाज था। उनकी लज्जावश पुरकी युवतियाँ प्यासी रह गयीं। अर्थात् हाव-भावमय वार्ता हास-कटाक्षादि अवलोकन राजकुमारोंसे न कर पायीं, इसलिये रूप-रसकी प्याससे निज-निज निवास-स्थानमें प्रेम-बलसे पुनः मिलनेकी आशासे उदास बैठी हैं। उसी प्रेमकी डोरीसे जब अनेकों युवतियोंने खींचा तब प्रभु धैर्य न धर सके। पर धर्म-धुरीण ऋषियोंके संग कैसे जायँ। अतः श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें विशेष लालसा प्रकटकर आज जाना चाहते हैं, नहीं तो भला लक्ष्मणजीके हृदयमें लालसा कहाँ? यह तो केवल आपकी प्रेरणासे हुआ। आप आर्त नर-नारियोंके प्रेमवश उनको दर्शन देकर सुख देना चाहते हैं—यह अभिप्राय मुनि समझ गये। यह भाव *'प्रेम बिबस सेवक सुखदाता'* का है।' (यह भाव शृङ्गारियों रसिकोंके हैं।)

नोट—२ तीनों संज्ञाएँ साभिप्राय हैं। क्योंकि धर्ममर्यादाका रक्षक ही नम्रता दिखा सकता है। प्रेमविवश ही भक्तोंकी रुचिका पालन कर सकता है और सेवक-सुखदाता ही सेवकोंको सुखी कर सकता है। यह परिकराङ्कुर अलङ्कार है। (वीर) *'धरमसेतु पालक सुखदाता'* का भाव कि आज्ञा माँगना मुझे मान देना है।

नोट—३ पं० रामचरण मिश्रजी *'प्रेम बिबस'* को *'सेवक'* का विशेषण मानते हैं। *प्रेम बिबस सेवक*=जो सेवक प्रेमसे विवश अर्थात् बेकाबू हैं, प्रेमविभोर हैं। भाव यह कि लक्ष्मणजी आपके प्रेमाधीन हैं स्वतः कुछ नहीं कर सकते। अतः उनकी इच्छा पूर्ण करना आपका विशेष धर्म है।

दो०—जाइ देखि आवहु नगरु सुखनिधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ॥ २१८॥

अर्थ—सुखनिधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और अपने सुन्दर मुखारविन्दोंको दिखाकर सबके नेत्रोंको सुफल करो॥ २१८॥

श्रीलमगोड़ाजी—मुनि ऐश्वर्यके अंश (*'धरमसेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥'*) को कहते-कहते सामयिक शृङ्गारपर ही आ जाते हैं। कविका संकेत है कि हम भी ऐश्वर्यको भूलकर राजकुँवरोंके *'सुंदर बदन'* के माधुर्यपूर्ण शृङ्गारको देखें। *'बीनंद रूप गुल'* की तैयारी है और नगरवासियों इत्यादिका *'सुंदर बदन'* देखना ही श्रीसीताजीके लिये उस फूलकी सुगन्ध पानेका कारण बनेगा।

टिप्पणी—१ श्रीरामजीने आज्ञा माँगी—*'जौं राउर आयसु मैं पावउँ।'''''''* इसीसे गुरुजी आज्ञा देते हैं—*'जाइ देखि आवहु नगरु''''''।'* श्रीरामजीने तो आज्ञा माँगी कि *'नगर देखाइ तुरत लै आवउँ'* परंतु मुनि आज्ञा देते हैं कि *'जाइ देखि आवहु''''''दोउ भाइ।'* मुनि दोनोंको नगर देखनेकी आज्ञा देते हैं जिसमें श्रीरामजी भी अच्छी तरह देख आवें, नहीं तो बिना आज्ञाके श्रीरामजी मन लगाकर न देखते, लक्ष्मणजीको शीघ्र दिखलाकर लौट आते।—[यहाँ शब्दोंकी योजनामें ही मुनिके वचनोंका 'सप्रीति'—(*'सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती'*) होना जना रहे हैं। *'जाइ देखि आवहु नगरु'* कहा। प्रथम जाना, फिर नगर देखना और

तब लौट आना क्रमसे कहना चाहिये था, ऐसा न करके *'जाइ देखि'* के साथ *'आवहु'* कहकर तब नगर पद अन्तमें दिया गया। भाव यह कि मुनि इन शब्दोंसे जना रहे हैं कि हम भी तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकते; इतना ही नहीं वरंच वचन-वियोग भी असह्य हो रहा है; अत: वियोग-वाचक शब्द *'जाइ'* के साथ ही संयोगवाचक *'आवहु'* शब्द कहा। पाण्डेजीका मत है कि *'जाइ'* शब्दसे वियोगवश हो नगर कहना भूल गये। जब *'आवहु'* शब्दसे *'संयोग'* कर लिया तब *'नगर'* कहनेकी सुध हुई।']

टिप्पणी—२ (क) *'सुखनिधान दोउ भाइ'* इति। दोनों भाई सुखनिधान हैं, यथा—*'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥'* (२१६। ५) (ख) 'सुखनिधान दोनों भाई जाओ' कहनेका भाव कि जाकर नगरको, सुख दो। [तुम दोनोंके दर्शनोंसे नगरवासी सुखी होंगे। पुन: भाव कि प्रार्थना करके गुरुको सुख दिया, यथा—*'सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती।'* लक्ष्मणजीका मनोरथ पूर्ण करके लक्ष्मणजीको सुख दिया, यथा—*'प्रेम बिबस सेवक सुखदाता।'* और आगे मुनिकी आज्ञा पाकर लोकको सुख देने जाते हैं। इसीसे *'सुखनिधान दोउ भाइ'* कहा। श्रीलक्ष्मणजीकी कृपासे ही तो सबको सुख मिलेगा। पुन: (ग) *'सुखनिधान'* का आशय यह है कि तुम्हारे जानेसे हमें दु:ख होगा इससे शीघ्र आ जाना। पुन: भाव कि नगर तुम दोनों भाइयोंके सुखका निधान है; अर्थात् इस नगरमें श्रीजानकीजी और श्रीउर्मिलाजी आदि हैं *'सुखनिधान'* देहली-दीपक-न्यायसे *'नगर'* और *'दोउ भाइ'* दोनोंके साथ लग सकता है। भाव यह है कि इसी नगरमें तुम दोनोंका ही नहीं किंतु चारों भाइयों एवं और रघुवंशी राजकुमारोंके विवाह होंगे, यह नगर सबको सुख देगा। यहीं तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी। विश्वामित्रजीने जो राजा दशरथसे कहा था कि *'धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान॥'* (२०७) उस सम्बन्धसे नगरको *'सुखनिधान'* कहा। पुन: भाव कि तुम दोनों भाई नगरके (सुखके) निधान हो अर्थात् धनुषके टूटनेसे सबको सुख होगा। (पाँ०)]

टिप्पणी—३ *'करहु सुफल सब के नयन'''''''''* इति। भाव कि तुम्हारे दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं, यथा—*'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदनपंकज भवमोचन॥'* (३। १०। ९) *'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।'* (३। २६) *'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥'* (७। ७६। ६) अत: पुरवासियोंके नेत्र तुम्हारे दर्शन पाकर सुफल होंगे।

पाण्डेजी—*'करहु सुफल सब के नयन'* का भाव कि जो तुमने कहा कि हम नगर देख आवें (दिखला लावें) यह उलटी बात है, आप अपने *'सुंदर बदन'* को (दिखला आवें और) दिखाकर सबके नेत्र सफल करें। 'नेत्र सफल' करनेका एक तो साधारण भाव यह है ही कि सबको सुख दो, दूसरा भाव यह है कि अन्य अनेक सब राजाओंके मुँहका दर्शन निष्फल हुआ है तो तुम धनुषको तोड़कर अपने मुखारविन्दसे सफल करोगे।' अर्थात् तुम्हारा दर्शन उनको फलीभूत होगा, मङ्गलदायक होगा।

पंजाबीजी—'देखना अपूर्व वस्तुका होता है सो तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपकी मायासे रचित है, पर आपका अवतार लोगोंको कृतार्थ करनेके निमित्त है। इसलिये 'सबके नेत्रोंको जाकर सफल करो' ऐसा कहा।

श्रीबजरंगबली अनुरागलताजी—इन चौपाइयोंमें यह भी भाव हैं कि १ *'धरमसेतु पालक'* से सूचित किया कि आपका एक पत्नीव्रत धर्म है, पर जनकपुरवासिनी स्त्रियाँ आपके दर्शनोंके लिये लालायित हो रही हैं, इससे आप यह न करें कि उनकी ओर न देखें। आप अपने *'प्रेम बिबस सेवक सुखदाता'* गुणको काममें लाइये, शीघ्र लौटकर हमारे वियोगरूपी दु:खको दूरकर हमें सुख दीजिये और अपने मुखारविन्द अर्थात् कटाक्षयुत दर्शनसे जनकपुरकी स्त्रियोंको सुख देकर उनके नेत्रोंको सुफल कीजिये। आप भी अवश्य देखियेगा, आप न देखेंगे तो उनके नेत्र न सुफल होंगे। २—इस प्रसङ्गमें यह भी दिखा रहे हैं कि भक्तके लिये आचार्यका होना आवश्यक है, बिना आचार्यके प्रभु किसीको अङ्गीकार नहीं करते। इसीसे लक्ष्मणजीकी लालसा कहकर उनको, भक्तको भगवंतसे मिलानेमें आगे किया।

मुनि पद कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक लोचन सुखदाता॥ १॥
बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा॥ २॥

शब्दार्थ—**लोक**=तीनों लोक; भुवनमात्र; जन, प्राणी; लोग। यथा—'**लोकस्तु भुवने जने।**' (**इत्यमरः**)

अर्थ—समस्त लोकों वा प्राणियोंके नेत्रोंको सुख देनेवाले दोनों भाई मुनिके चरणकमलोंकी वन्दना करके चले॥ १॥ (इनकी) अत्यन्त शोभा (सुन्दरता) देखकर बालकोंके झुण्ड साथ लग गये। उनके नेत्र और मन लुभा गये हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) '***मुनि पद कमल बंदि***' इति। जब पुष्पवाटिका देखने गये थे, तब वन्दना नहीं की और यहाँ चरणोंकी वन्दना करते हैं। कारण यह है कि यहाँ न तो कुछ गुरुकार्य ही है और न देवकार्य ही, केवल कौतुक देखना है। इसीसे चरणोंमें प्रणाम करके गये और लौटकर भी प्रणाम किया जिसमें गुरुजी प्रसन्न रहें, नाराज न हों। [अथवा, गुरुको प्रणाम करके जाना तो सदा ही धर्म है, चाहे वह गुरुकार्य हो, चाहे देवकार्य; अतएव समाधान यह है कि यहाँ एक जगह प्रणाम कहकर इसीसे सर्वत्र यही रीति जना दी। जब-जब जाना हुआ, तब-तब प्रणाम करके ही जाना हुआ, यह समझ लें, बार-बार लिखनेकी आवश्यकता नहीं।] (ख) '***चले लोक लोचन सुखदाता***' इति। गुरुजीकी आज्ञा है '***करहु सुफल सबके नयन***'; इसीसे प्रथम ही '***लोक लोचन सुखदाता***' विशेषण देते हैं। '***लोक***' अर्थात् '***जन***' के सुखदाता हैं। [पाँड़ेजी लिखते हैं कि यहाँ '***भुवन***' अर्थ नहीं है। यहाँ 'मिथिलापुरीके लोगोंको' यह अर्थ है।' बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'यह नगरकी यात्रा लोक (मात्रके) लोचन (को) सुखद है; विवाह भावी है, इसीसे सर्वलोचन-सुखदायी है।' मेरी समझमें '***लोक लोचन सुखदाता***' विशेषण है। सभीके नेत्रोंको आपके दर्शनसे सुख होता है, अतः जनकपुरवासियोंको भी सुख होगा।]

टिप्पणी—२ '***बालक बृंद देखि अति सोभा******'**' इति। (क) '***देखि अति सोभा***' इति। जनकपुरके लोग देवताओंसे भी अधिक सुन्दर हैं, यथा—'***नगर नारिनर रूप निधाना। सुधर सुधरम सुसील सुजाना॥ तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उजियारी॥***' (३१४। ६-७) (जिस नगरके लोगोंके सौन्दर्यशोभाके आगे देवगणकी सुन्दरता मात है) उसी नगरके बालक हैं, (ये नित्य ही मारमदमोचन सौन्दर्यका दर्शन करते ही रहते हैं, अतएव नगरनिवासियोंकी-सी शोभा तो उन्हें मोहित ही नहीं कर सकती), जब उससे कहीं अधिक शोभा देखें तभी मोहित हो सकते हैं। अतएव '***देखि अति सोभा***' कहा। ('***अति सोभा***' ही से सूचित कर दिया कि ये बालक एवं नगरनिवासी बड़े ही सुन्दर हैं, पर ये दोनों भाई अतिशय सुन्दर हैं।) (ख) '***लगे संग***' से जनाया कि इनको देखकर सब इनमें अनुरक्त हो गये ऐसे कि संग हो लिये। '***लगे***' से जनाया कि साथ नहीं छोड़ना चाहते। यथा—'***रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं संग लागे॥***' (२। ११४। ७) संग लगना कहकर आगे उसका कारण कहते हैं—'***लोचन मनु लोभा।***' (ङ) लोचन और मन दो वस्तुएँ हैं, तब '***लोचन मन लोभे***' कहना था, '***लोभा***' एकवचन कैसे कहा? उत्तर यह है कि भाषामें एकवचन, बहुवचनका विचार सब जगह नहीं रहता। जैसे जहाँ एकवचनका प्रयोग है, ऐसे ही अन्यत्र भी लिखा है यथा—'***मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मन लोभा॥***' (च) '***लोचन मन लोभा***' अर्थात् मन लगाकर देख रहे हैं। यथा—'***राम लषन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥***' (२। ११६। २) प्रथम नेत्रेन्द्रिय लुब्ध हुई तब मन, अतः उसी क्रमसे कहा। मन इन्द्रियोंका राजा है। नेत्र दीवान हैं। दीवान जिसका आदर करे राजा उसके वश हो जाय—'***दृग देवान जेहि आदरै मन तेहि हाथ बिकाय।***'

प० प० प्र०—श्रीराम-लक्ष्मणजीके अनुपम रूपसिंधुकी अद्भुत महिमा पहले विदेह जनकराज-सरीखे ब्रह्मलीन परम विरागी विज्ञानी, वृद्ध ब्राह्मण-क्षत्रियादिको भी मोहित करनेमें कैसी समर्थ हुई यह सुचारु रूपसे बताया गया है। अब समाजके दूसरे छोरकी दशा बताते हैं। एक तो बालक हैं। बालक ज्ञानी, विज्ञानी, विरागी नहीं है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि अज्ञानी अपढ़ बालक

और विज्ञानी परम विरागी ब्रह्मलीन विदेहकी एक-सी ही दशा हुई। पर उन परम विरागी वृद्धोंसे भी ये बालक अधिक बड़भागी हैं, क्योंकि वे तो बिना कुछ सोच-विचार किये ही कठपुतलियोंके समान *'लगे संग'* और आगे चलकर सम्भाषण, संस्पर्श, वार्तालापका सुख भी वे बालक ही लूटेंगे। यह सुख जनकपुरीमें और किसीको भी नहीं मिला। ☞ *'मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥'* यह वचन यहाँ चरितार्थ किया है। सुतीक्ष्णजीको भी यह सौभाग्य नहीं मिला। इस मिलानसे सूचित हुआ कि सबसे छोटा होना ही परम सुखद और परम हितकारक है।

श्रीराजारामशरणजी—१ परदेका बदलना समझ लीजिये। २—फिल्म कलाकी सहायक प्रगतियाँ विचारणीय हैं। ३—नाटकीयकला। यवनदेश यूनान (Greece) के नाटकीय कलाकारोंने यह नियम निकाला था कि नाटकमें तीन प्रकारकी साम्यताओं (Unities) के विचार रहने चाहिये—देश, काल और कार्यक्रम। जिसका मतलब यह था कि एक अंश और दूसरे अंशमें इन बातोंका इतना अन्तर न होना चाहिये कि हमारी कल्पनाशक्तिको बहुत धक्का लगे। किन्तु शैक्सपियर इत्यादिने केवल कार्य-क्रमकी साम्यताको ही माना है और इस प्रकार नाटकीयकलाकी संकुचितताको कम कर दिया है। कालिदासने भी कार्य-क्रमकी ही साम्यता मानी है।

मगर कलाकार हमेशा मुशकिलपसंद होते हैं। टैगोरजी कहते हैं कि (Joy expresses itself in law) आनन्द अपना प्रकटीकरण नियममें ही करता है। शैक्सपियरने टेम्पेस्ट (Tempest) नामक नाटकमें तीनों साम्यताओंके निर्वाहका यत्न किया। मगर प्रेम-परीक्षाके लिये लट्ठे ढोलानेका-सा कृत्रिम और भोंडा काम राजपुत्र फर्डिनैन्डसे करवाना पड़ा। हमारे कविने यहाँके नाटकमें तीनों साम्यताओंको निबाहा है और प्रेम-परीक्षाके लिये धनुष-यज्ञकी जोड़का नाटकीयकलामें मिलना कठिन है। अन्तमें प्रेमकी वह दृढ़ अवस्था पहुँचा दी है कि *'जा पर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥'* दो दिनमें यह कर देना कविका कमाल है।

कुछ बातें इन दोनों नाटकोंमें और मिलती हैं। १—दोनों सुखान्तक हैं। २—दोनोंमें प्रारम्भ और अन्तमें दृश्य प्रधान। ३—दोनोंमें वानप्रस्थी युवक जीवनको (रामायणमें श्रीराम-लक्ष्मणको और टेम्पेस्टमें मिरैंडा लड़कीको) संयमित बनाया है। इस प्रकार संसारमें संयमित जीवनका विकास होता है। ४—दोनोंमें आसुरी जीवनको ताड़ित किया है; कारण कि वह संयमित नहीं बना—*'मूरख हृदय न चेत'*। परंतु कलाकी दृष्टिसे श्रीतुलसीदासजीके इस नाटकके सामने टेम्पेस्ट बच्चोंका खेल-सा जान पड़ता है; यद्यपि वहाँ भी अमानुषिक व्यक्तियोंका प्रयोग है। टेम्पेस्टमें स्पष्ट एक जादूगरी है तो यहाँ विश्वका आधिदैविक रहस्य नाटकरूपमें है। ☞ (५) हमने जहाँ 'परदे' लिखा है वहाँ बहुधा 'सीन' समझना चाहिये। तुलसीदासका रंगमञ्च वर्तमान स्टेज नहीं है वरंच शैक्सपियरके समयके रंगमञ्चकी भाँति कुछ खुला और कुछ ढका हुआ अभिनय स्थान है जहाँ परदोंकी जगह छोटे सीन बना दिये जाते हैं। आज भी हम फुलवारी और धनुष-यज्ञ इसी प्रकार खेले जाते देखते हैं। इतना ही नहीं, बारात इत्यादिमें तो नगरका बाजार ही रंगमञ्च बन जाता है और जनक-बाजारमें बहुधा हर पेशेके प्रतिनिधि हिस्सा लेते हैं। इस प्रकार नाटकी और काव्यकलाका फैलाव साधारण जनतामें होता है।

पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥ ३॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥ ४॥

शब्दार्थ—**परिकर**=कटिबन्धन; पटुका; फेंट। **'परिकरः कटिबन्धनम्'**। **अनुहरत**=अनुकूल, अनुसार, अनुरूप, उपयुक्त। **सुचंदन**=सु (सुन्दर, अच्छा)=चन्दन=केसर, कस्तूरी, कपूर आदिसे युक्त चन्दन (का अंगराग)। **खोरी** (खौर)—मस्तक आदिपर चन्दनका लेप करके उसपर उँगली या कंघीसे खरोंचकर चिह्न बनाये जाते हैं। उसे खौर वा खरौंटा कहते हैं। किसी-किसी टीकाकारने 'तिलक' अर्थ किया है, पर यहाँ यह अर्थ नहीं है।*

* पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि "यहाँ खौर तिलक अर्थ असंगत है, क्योंकि तिलक लगाना सर्वत्र कहा है; खौरका लेख कहीं नहीं आया फिर तिलकका वर्णन आगे भी है, 'तिलक रेख सोभा जनु चाकी'। यहाँ खौर तिलकका वर्णन नहीं है किन्तु अङ्गरागका वर्णन है। (क्योंकि यहाँ 'तनु' कहा है।)

अर्थ—पीत वस्त्र (पीताम्बर) पहने हैं, कमरमें पटुका और (उससे बँधा हुआ) तरकश है और हाथोंमें सुन्दर धनुष-बाण शोभित हैं॥ ३॥ शरीरके (श्याम और गौर वर्णके) अनुकूल उपयोगी सुन्दर चन्दनकी खौर लगी है। साँवले और गौर रंगकी सुन्दर जोड़ी है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'पीत बसन'* इति। पीत-वस्त्र वीरोंका बाना है, दूसरे भगवान्‌को पीत-वस्त्र प्रिय है। इसीसे सर्वत्र पीत-वस्त्र धारण करना लिखा है, यथा—*'कटि पट पीत कसे बर भाथा।'* (२०९। २) *'केहरि कटि पट-पीत-धर'*.....।'(२३३) *'कटि तूनीर पीत-पट बाँधे।'* (२४४। १) *'तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा।'* (३१६। १) *'पीत पुनीत मनोहर धोती।'....'पिअर उपरना काँखा सोती।'* (३२७। ३, ७) *'नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥'* (७। १२) तथा यहाँ *'पीत बसन परिकर'....*', इत्यादि। (ख) *'पीत बसन'* अर्थात् पीताम्बर कंधेमें (काँखा सोती पड़ा हुआ) है; परिकर अर्थात् कटिबंधन कटिमें है और तरकश कटिमें पीले पटुकासे कसा हुआ है। यदि यह अर्थ करें कि पीत-वस्त्र कटिमें है तो ऊपरका शरीर नङ्गा रह जाता है। ऊपर देहमें न अङ्गरखा है, न दुपट्टा, यह ठीक नहीं जान पड़ता। [हमारी समझमें पीताम्बर पहने हैं। कवि इतना बतला रहे हैं कि उनके वस्त्र पीत हैं, अङ्गरखा है या क्या है, या केवल पीताम्बरी ओढ़े हैं यह पाठक रुचि अनुकूल समझ लें। कटिमें भी पीतवस्त्रका ही फेंटा है। पं० रामचरणमिश्रजी कहते हैं कि 'पीतवस्त्रका कमर-फेंटा वीर बाना है। श्रीमद्भागवत रासपञ्चाध्यायीमें कहा है-'**पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।**' (भा० १०। ३२। २) अर्थात् पीत फेंटा बाँधकर कामको जीता है। नगर-दर्शनमें वीरताका काम है। सबके हृदयकमलमें घुसकर मनको जीतना है। अतः वीररससे प्रसङ्ग उठाया। वीररसका वर्णन कटिसे, शृङ्गारका सिरसे, शान्त और करुणाका पगसे कहा जाता है।'] (ख) *'चारु चाप सर सोहत हाथा।'* इति। धनुष और बाण दोनों *'चारु'* अर्थात् स्वतः सुन्दर हैं, सो वे भी हाथमें सोह रहे हैं—इस कथनका तात्पर्य यह है कि हाथ अत्यन्त सुन्दर हैं, सुन्दरको भी सुन्दर करते हैं (बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि *'चारु'* से सुन्दर और पवित्र पुण्यरूप जनाया। धनुष-बाण पापियोंको निर्वाणदायक हैं, अतः *'चारु'* हैं, औरोंके धनुष पापरूप हैं)।

टिप्पणी—२ *'तनु अनुहरत सुचंदन खोरी।'*.......' इति। (क) तन श्याम और गौर हैं, एक तरहके नहीं हैं। (श्रीरामजी श्याम हैं और लक्ष्मणजी गौरवर्ण हैं।) तनके अनुहरत चन्दन कहते हैं। इससे सूचित किया कि चन्दन भी दो तरहका है। तनके *'अनुहरत'* चन्दन है, तन सुन्दर है अतः चन्दनको भी सुन्दर कहा—*'सुचंदन'*। *'सुचंदन'* कहकर मलयागिरिचन्दन सूचित किया जिसकी प्रशंसा भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखारविन्दसे की है; *यथा—'संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥ ताते सुर-सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड।'* (७। ३७) (ख) माथेका तिलक आगे कवि स्वयं कहते हैं—*'तिलक रेख सोभा जनु चाकी।'* यहाँ अभी शरीरपर जो चन्दन लगा है उसका वर्णन है। कटि कहकर कटिके ऊपर कण्ठतक चन्दनका खौर कहा।

नोट—१ (क) *'सुचंदन खोरी'* इति। 'चन्दन-खौर' में मतभेद है। कोई तो श्याम तनमें केसर कपूरमय पीले रंगके चन्दनका खौर और गौरवर्ण लक्ष्मणजीके तनपर अगर-मृगमदमय श्यामरङ्गका खौर लिखते हैं। (वै०, वि० त्रि०), कोई श्यामपर पीली और गौरपर लाल खौर होना लिखते हैं। (पं०) और कोई श्यामतनपर लाल और गौरपर श्वेत चन्दन केसरिया पीत रङ्गका खौर अङ्गराग लिखते हैं। (रा० च० मिश्र), इत्यादि। चन्दन और खौरके नाम और रंग न देकर कविने सभीके मतोंका पोषण किया है। अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल सब समझ लें। पाँड़ेजीका मत है कि 'यहाँ किसी तिलकका नियम नहीं किया, इसलिये कि किसी-न-किसी मतके विरुद्ध पाया जायगा; परन्तु जब यह कहा कि श्यामगौर मनोहर जोड़ीके अनुहरत चन्दन है तो इससे लाल चन्दन पाया गया, क्योंकि वह श्याम और गौर दोनों अङ्गोंमें सुशोभित होता है और वाल्मीकिजीने लाल चन्दन स्पष्ट लिखा है।' अगर मिलानेसे चन्दनका रङ्ग श्याम हो जाता है।

नोट—२ *'मनोहर जोरी'* इति। जोड़ी मनोहर है, *यथा—'राम लषन दसरथके ढोटा। दीन्हि असीस*

देखि भल जोटा॥' (२६९। ७) (यहाँ शोभाका भी वर्णन वैसा ही है जैसा कि बालक ग्रहण कर सकते हैं। बालकोंसे घिरे हैं, इससे चरण नहीं देख पड़ते। अत: चरणका वर्णन नहीं किया। (वि० त्रि०)

केहरि कंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नागमनि माला॥ ५॥
सुभग शोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक तापत्रय मोचन॥ ६॥

शब्दार्थ—**कंधर**=कंधा, गरदन, गला। (श० सा०)। **'कं (मस्तकं) धरतीति कंधर:'**। **नाग**=गज; सर्प; पर्वत। **नागमणि**=गजमुक्ता, सर्पमणि, हीरा-पन्ना-माणिक्यादि।

अर्थ—सिंहके-से कंधे और गर्दनके पृष्ठभाग हैं, भुजाएँ (आजानु-घुटनेतक) लंबी हैं। विशाल उर (वक्ष:स्थल) पर अत्यन्त सुन्दर नागमणियोंकी माला है॥ ५॥ सुन्दर लाल कमलके समान नेत्र हैं। मुखचन्द्र तीनों तापोंका छुड़ानेवाला है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'केहरि कंधर'* अर्थात् ग्रीवा सिंहके समान पुष्ट, मांसल, मोटी और उन्नत है। *'बाहु बिसाला'*— भुजाओंकी लम्बाई अन्यत्र लिखी है। यथा—*'करिकर सरिस सुभग भुजदंडा।'* अर्थात् हाथीकी शुण्डके समान लम्बी, बलिष्ठ और पुष्ट भुजाएँ हैं, *'आजानुभुज शर चाप-धर संग्राम-जित-खरदूषणं।'* (वि० ४५) यहाँ सिंहकी-सी मोटी ग्रीवा कही और फुलवारीमें सिंहकी-सी पतली क्षीण कटि कही है। (**'कंधर'**—१४७। ७ मा० पी० भाग २ देखिये)। (ख) *'उर अति रुचिर नाग-मनि माला'* इति। भाव कि वक्ष:स्थल इतना सुन्दर है कि उससे समस्त भूषण रुचिर हो गये हैं। यथा—*'उर आयत उरभूषन राजे।'* नाग हाथी, सर्प और पर्वत तीनोंका वाचक है; यथा-*'सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।'* (४। ४। १०) *'सर छाँड़इ होइ लागहिं नागा।'* (६। ७२) *'नाग पास देवन्ह भय पायो।'* (६। ७२) *'नगे भव: नाग:।'* नग (पर्वत) में जो उत्पन्न हो वह नाग (इस तरह 'नाग' से मणि, माणिक्य आदिका अर्थ भी लिया जा सकता है)। इस तरह *'नागमनि'* शब्द देकर गजमुक्ताओं, सर्पमणियों और हीरा-पन्ना मणियों आदिकी माला पहने होना जनाया। ये सब पहने जाते हैं; यथा—*'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥'* (१। ११। १) पुन: (ग) 'सिंह और हाथीका सम्बन्ध है। इसीसे सिंहकी उपमा देकर नाग अर्थात् हाथीके मणिकी माला कही। *'केहरि कंधर'* के सम्बन्धसे गजमुक्ताकी माला' कही। भुजा और सर्पका सम्बन्ध है, भुजाके लिये सर्पकी उपमा दी जाती है; यथा—*'भुजग भोग भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई।'* (विनय० ६२) *'अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहिं भूष अहि लोभ अमी के॥'* (३२५। ९) अत: *'बाहु बिसाला'* के सम्बन्धसे नाग अर्थात् सर्पके मणियोंकी माला कही। उरको शैलकी उपमा दी जाती है, यथा—*'सुंदर स्याम सरीर सैल ते धसि जनु जुग जमुना अवगाहैं।'* (गीतावली ७। १३) उरका शैलसे सम्बन्ध है, अत: *'उर अति रुचिर'* के सम्बन्धसे 'नाग' अर्थात् पर्वतके मणिकी माला कही।

नोट—१ *'केहरि कंधर………'* इति। यहाँ वाचक पद (सम, जिमि, आदि) नहीं हैं। इस तरह कहकर सिंहहीका रूप जनाया। सिंहके आगेवाले हाथ विशाल होते हैं, वैसे ही यहाँ भी विशाल हाथ कहे। केहरि कंधरमें वाचकधर्मलुप्तोपमा है। (प्र० सं०) *'बिसाला'* देहली-दीपक-न्याससे 'उर' का भी विशेषण है। यथा—*'उर बिसाल बृष कंध………'* (जा० मं० ३३)। वीरोंके कंधे ऊँचे होते हैं, इसीसे उनकी उपमा वृषभ या सिंहके कंधेसे देते हैं। पूर्व इनको पुरुषसिंह कहा है इसीसे यहाँ सिंहके-से कंधे कहे।

प० प० प्र०—श्रीराम-लक्ष्मणजी मुनि-भय-हरणार्थ जब महर्षि विश्वामित्रके साथ सहर्ष श्रीअवधसे निकले तभी वे 'पुरुषसिंह' हो गये और वहाँसे *'सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे।'* (२३४। ३) तक बराबर केहरि, सिंह आदि बने रहते हैं। *'पूछन जोग न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंह तिहुँ पुर उजियारे॥'* (२९२। १) तक इन पुरुषसिंहोंका दर्शन बार-बार होता है। यहाँसे फिर आगे अयोध्याकाण्डकी समाप्तितक वे पुरुषसिंह नहीं हैं। अरण्यमें तो सिंह रहते ही हैं। जहाँ खरदूषणादि दुर्धर गजराज निवास करते हैं वहाँ श्रीराम-

लक्ष्मण-केसरी नहीं अपितु मृगराज बने और लङ्काकी समाप्तितक पुरुषसिंह, नर केहरि और मृगराज हैं। यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि बालरूपके ध्यानमें 'केहरि' का नाम भी नहीं है।

नोट—*'सुभग शोन सरसीरुह लोचन.......'* इति। (क) ऊपर कह चुके हैं कि यहाँ वीररसका शृङ्गार वर्णन कर रहे हैं। वीररसके नेत्र लाल होते ही हैं। अतः नेत्र सुन्दर लाल कमलके समान हैं। कमलसे कमलदलके समान लम्बे दीर्घ और लाल डोरे पड़े हुए जनाया। (ख) सुन्दर कमल समान नेत्र हैं। कमलमें मकरन्द और पराग होता है, भ्रमर उसपर मड़राते हैं। यहाँ नेत्र-कमलमें शील मकरन्द है, कृपायुक्त चितवन पराग है, पुतलियाँ भ्रमर हैं। (रा० प्र०) (ग) *'सुभग'* से जनाया कि बड़े लम्बे रसीले पैने कटाक्षसहित नेत्र हैं, बड़ी-बड़ी बरुणी हैं। कटाक्षसहित देखते ही पैने कटाक्ष उरमें बरछेके समान गड़ जाते हैं। (वै०)

टिप्पणी—२ *'तापत्रय मोचन'* इति। (क) यह *'सरसीरुह लोचन'* और *'बदन मयंक'* दोनोंका विशेषण है। दोनों ही तीनों तापोंको हरते हैं। यथा—*'स्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ ताप त्रय मोचन॥'* (६। ६२) (कुम्भकर्णवाक्य) तथा यहाँ *'सरसीरुह लोचन। बदन मयंक ताप-त्रय मोचन।'* है। चन्द्रमा शरदातपमात्रको हरता है और ये दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों तापोंको हरते हैं। दैहिक-तापके हरणका उदाहरण, यथा—*'निरखि राम छबिधाम मुख बिगत भई सब पीर।'* (३। ३०) [(ख) यहाँ जनकपुरमें आपके आगमनसे तीनों ताप दूर भी होंगे।—प्रतिज्ञा रूपी दैहिक ताप (क्योंकि प्रतिज्ञा शरीरसे होती है), खल नृपोंद्वारा उत्पन्न भौतिक ताप (क्योंकि ये धनुष टूटनेके पश्चात् लड़नेको कटिबद्ध होने लगे थे। भौतिक-ताप क्षुद्र जीवोंद्वारा होता है, वैसे ही ये दुष्ट राजा अति नीच हैं)। और परशुरामका गर्वसहित आगमन और रोष दैविक ताप (जो अकस्मात् एकाएक उत्पन्न हो गया)। (पाँ०) ये तीनों ताप मिट गये। (ग) अथवा, भक्त चार प्रकारके हैं। उनमेंसे जो ज्ञानी भक्त हैं उनको तो कोई भय नहीं है। रहे तीन—आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु। इन तीनोंके तापोंको दूर करेंगे। यथा—*'सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥' 'जनक लहेउ सुख सोच बिहाई।' 'सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती॥'* इत्यादि। (प्र० सं०) अथवा, (घ) त्रय ताप अर्थात् अज्ञानी, जिज्ञासु और ज्ञानियों तीनोंके ताप हरते हैं। अज्ञानियोंको जिज्ञासा, जिज्ञासुओंको ज्ञान और ज्ञानियोंको जीवन्मुक्तिकी दृढ़ता कराते हैं।' (प०) अथवा, इस समय शरदृऋतु है। आज आश्विन शुक्ल चतुर्दशी युक्त पूर्णिमाका दिन है। धनुर्भङ्गकी चिन्तारूपी शरदातपसे विदेह जनकादि बड़े ज्ञानी, विरागी तथा समस्त मिथिलावासी संतप्त हैं। ऐसे अवसरपर जनकपुरमें बदनमयंक उदित हुआ है। चन्द्रमा तो रातमें उदय होता है पर यह मृगाङ्क दिनमें ही उदित हुआ है और दिनके चौथे प्रहरमें जनकपुरीकी वीथियोंमें होकर चल रहा है। यह चारु शशि है (१। १६। ५)। राकाशशि है यह वन्दनामें ही कह रखा है। अतः यहाँ मयंक (=मृगाङ्क) शब्दसे कोई दुस्तर्क न करें। जनकपुरीके नर-नारी तथा जनक तीनोंका ताप मिटानेवाले हैं, यह 'ताप त्रय मोचनसे जनाया है।' (प० प० प्र०)]

कानन्हि कनकफूल छबि देहीं। चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं॥ ७॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक रेख सोभा जनु चाँकी॥ ८॥

शब्दार्थ—**कनकफूल**=झुमका वा कर्णफूल जो कमलके फूलकी कर्णिकाके समान होता है। कुण्डल कई प्रकारके होते हैं—मीनाकृत, मकराकृत, मयूराकृत, पुष्पाकृत, भ्रमराकृत इत्यादि। यहाँ *'कनकफूल'* से पुष्पाकृत कुण्डल सूचित किये। यह कनककली और लौंगके समान होता है*। **बाँकी**=टेढ़ी, तिरछी। **चाँकी**=चक्राङ्कित की, मुहर लगा दी। जब मालगुजारी खेतकी पैदावारके ही रूपमें दी जाती थी, तब राजाका अंश अन्नके ढेरोंमें 'चक्राङ्कित' कर दिया जाता था। (गौड़जी) (२) खलिहानमें अनाजकी राशिपर मिट्टी वा राखसे छापा लगाना, जिसमें, यदि अनाज निकाला जाय तो मालूम हो जाय।

* 'कनकफूल' के और अर्थ—(१) पीतवर्णके फूल (कानमें खोंसे हैं)। (रा० प्र०) वा, (२) कनक धतूराके समान फूल (कानोंमें हैं)। (रा० प्र०)।

यथा—'*तुलसी तिलोक की समृद्धि सौंज संपदा सकेलि चाकि राखी रासि जाँगरु जहान भो।*' (क० ५। ३२) (श० सा०)।=छापा जो बिना बँटे हुए अनाजपर लगाया जाता है। (मा० त० वि०) और अर्थ टिप्पणी आदिमें नीचे दिये गये हैं।

अर्थ—कानोंमें 'कनकफूल' (पुष्पाकृत कुण्डल) शोभा दे रहे हैं (भाव कि इनके कानोंमें पड़ जानेसे कनकफूलोंकी शोभा है)। देखते ही (देखनेवालेके) चित्तको मानो चुराये ही लेते हैं॥ ७॥ उनकी चितवन (अवलोकन, दृष्टि, नेत्रोंका कटाक्ष) मोहिनी है और भौंहें श्रेष्ठ, सुन्दर और टेढ़ी-तिरछी हैं। तिलककी रेखाएँ ऐसी जान पड़ती हैं कि मानो 'शोभा' पर छाप या मुहर लगा दी गयी है॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*काननि्ह कनकफूल*.........' इति। (क) कानोंमें कनकफूल अत्यन्त शोभा दे रहे हैं। यह स्पष्ट अर्थ तो है ही, पर '*चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं*' के सम्बन्धसे एक अर्थ इस प्रकार होता है—कानन=वन। कनक=धतूरा। यहाँ कान वन है (पाँड़ेजीके मतानुसार शरीर वन है), कनकफूल (जो कानमें पहने हैं) धतूरेका अमल है। धतूरेमें नशा है, यहाँ छबि नशा है। '**छबि देहीं**'=छबि देते हैं। छबिको देकर चित्तको चुरा लेते हैं। [तात्पर्य कि जैसे वनमें धतूरेका अमल बटोहीको देकर ठग उसका सब धन चुरा लेते हैं वैसे ही यहाँ कानरूपी वनमें कनफूलरूपी ठग छबिरूपी धतूरेका अमल देकर दर्शकरूपी बटोहीके चित्तरूप सब वित्तको चुरा लेते हैं। धतूरा बेहोश कर देता है, दर्शक तन-मन-वचनसे शिथिल हो जाते हैं। यथा—'*एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥*' (२। ११४। ८)—पाँड़ेजीके आधारपर यह भाव सम्भवतः सबने कुछ हेर-फेरसे लिखा है। रा० प्र० कार लिखते हैं कि कानोंमें जो धतूरेके समान (कनक) फूल हैं वे अपनी छबिसे देखनेवालेको उन्मत्त बना देते हैं, जैसे विष देकर लोग बेहोश कर दिये जाते हैं। ये '*कानन्हि*' का अर्थ 'वनमें' नहीं करते हैं। प्र० स्वामी कहते हैं कि '*कानन्हि*' कान-शब्दकी सप्तमी विभक्तिका बहुवचन है, अतएव कानन शब्द लेकर वन आदि अर्थ करना खींचातानी है। **कनकफूल**=धतूरेके फूलके आकारका कुण्डल] (ख) '*चोरि जनु लेहीं*' अर्थात् चित्त कनकफूल (के देखने)में लग जाता है (उधरसे हटता नहीं)। यथा—'*तुलसी तिन्ह फिर मन फेरि न पायो।*', '*हेरत हृदय हरत नहिं फेरत चारु बिलोचन कोने। तुलसी-प्रभु किधौं प्रभुको प्रेम पढ़े प्रगट कपट बिनु टोने॥*' (गीतावली २। २३) (ग) चित्त कोई चुरानेकी वस्तु नहीं है। यह कविकी कल्पना-मात्र 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। (वीर)

टिप्पणी—२ '*चितवनि चारु*' इति। (क) नेत्र कह आये—'*सुभग सोन सरसीरुह लोचन।*' अब उनका व्यापार कहते हैं। चितवन नेत्रका व्यापार है। (ख) चितवन चारु है, यथा—'*चितवनि चारु मार मनु हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी॥*' (२४३। ३) पुनः, (ग) चारु=सुन्दर। ['अर्थात् चितवन सौम्य, तिरछी कटाक्षादि रहित है। यह स्थैर्यगुणको मुद्रा है। भाव कि चित्त सदा स्थिर रहता है।' (वै०) पुनः, (घ) चितवनि अर्थात् कटाक्ष जो शृङ्गारका मूल है। यथा— '**भावः कटाक्षानि हेतुः शृङ्गारे बीजमादिमम्। प्रेममानः प्रणयश्च स्नेहो रागोऽपि स स्मृतः॥ अनुरागः स एव स्यादङ्कुरः पल्लवस्तथा। कलिकाकुसुमानीति फलो भोगः स एव च।**' इति कौशलखण्डे। कटाक्ष तीन प्रकारका है। यथा—'**कटाक्षस्त्रिविधः श्यामः श्वेतश्यामस्तथाशितः।**' (मा० त० वि०)] नेत्र और चितवन दोनोंको कहकर जनाया कि केवल नेत्र ही नहीं सुन्दर हैं, चितवन भी सुन्दर है।

नोट—'*भृकुटि बर बाँकी*' इति। (क) भौंहकी टेढ़ाई उदासीनताकी मुद्रा है। उसमें '*बर*' विशेषण लगाकर उत्तम उदासीनता जनायी। अर्थात् अपने लिये कुछ नहीं चाहते हैं पर याचकमात्रके लिये उदार दाता हैं।—यह ऐश्वर्यदेशीय अर्थ हुआ। (वै०) पुनः, (ख) '*बर*' विशेषण देकर जनाया कि भृकुटि अपनी उपमासे श्रेष्ठ है। यथा—'*भृकुटि मनोज चाप छबि हारी।*' (पं० रामकुमार) भृकुटिका टेढ़ी होना ही उसकी शोभा है।

* 'तिलक रेख सोभा जनु चाँकी' इति। *

श्रीमान् गौड़जी और श० सा० के अर्थ शब्दार्थमें दिये गये। टीकाकारोंके अर्थ यहाँ दिये जाते हैं—

(१) पंजाबीजी—'तिलककी रेखा तो मानो शोभाको चाँकी अर्थात् छापा लगाया है। भाव यह है कि समस्त शोभाको माथेहीमें रोक रखी है।'

(२) पाँड़ेजी—(क) मानो शोभाकी राशिको घेर लिया है। जिसमें डीठि (नजर, कुदृष्टि) और टोना न लगे। पुनः (ख) चौंकी-चकबक (चकित) हो गयी। आशय यह कि तिलक रेखा ऐसी है कि मानो शोभा स्वयं आके चकबक होकर खड़ी हो रही है।

(३) बैजनाथजी—'माधुर्यमें अर्थ यह है कि सुन्दर चितवन तथा बाँकी कामधनुष-सी श्रेष्ठ भृकुटी हैं। इनके बीचमें काम-बाण-सी तिलककी रेखाएँ ऐसी शोभित हैं मानो द्युति, लावण्य, स्वरूपता, सुन्दरता, रमणीयता, कान्ति, माधुरी, मृदुता और सुकुमारता आदि अङ्गोंसहित शोभाकी राशि चाकी है अर्थात् छापा धरा है। भाव कि किसी अङ्गसे खण्डित नहीं है'।

(४) बाबा हरिहरप्रसादजी—चौंकी अर्थात् कसौटीपर कसी हुई कनककी रेखा। (रा० प०) कोई-कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि तिलककी रेखने शोभाको चकित कर दिया अथवा दबा दिया है।

(५) सन्त श्रीगुरुसहायलालजी—(क) यहाँ 'चौंक' मागधी बोली है। इसका अर्थ है 'सावधान करना या होना'। बोल-चालमें कहा जाता है कि 'मुझे तो उसीके बात करनेपर चौंक पड़ गया अर्थात् सावधानता आ गयी। *'तिलक रेख······चाँकी'* अर्थात् तिलककी ऊर्ध्व रेखाओंने मानो सर्वाङ्गकी शोभाको 'सयग्य' (सजग) कर दिया है। भाव यह कि यह विदेहनगर है, इसमें भावात्मक होकर देख पड़ना। अथवा, श्रेष्ठ बाँकी भृकुटी त्रिशूलाकार तिलक रेखद्वारा शोभाको मानो सावधान कर रही है। भाव यह कि यहाँ श्रीलाड़लीजीकी शोभाका मण्डल है, ऐसा न हो कि छक करके तुम फीके पड़ जाओ जिससे मुझे क्रोध आवे। अतः आगे अद्भुत शोभासे सखिगणकी दृष्टिमें चकाचौंध आ गया, यथा—*'कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥ सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं॥·············।'* (२२०) (ख) **चौंकी**=छापा जो बिना बँटे हुए गल्लेपर दिया जाता है। भाव कि यह तिलक नहीं है। किन्तु मानो शोभारूपी ढेर (राशि) के लिये छापा दिया हुआ है।

(६) पं० रामकुमारजी—(क) तिलककी रेखाओंने मानो शोभाको रोक दिया है। अर्थात् दो रेखाओंका तिलक है। दोनोंके बीचमें शोभा रुक गयी। अथवा (ख) तिलक-रेखकी शोभा कैसी है मानो बिजली है। यथा—*'कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई। अलप तड़ित जुग रेख इंदु महुँ रहि तजि चंचलताई॥'* (विनय० ६२) अथवा (ग) तिलक-रेख क्या है मानो शोभा है जो मुखको शोभाको देखकर चकित हो गयी है—(वीरकवि और त्रिपाठीजीने भी 'चाकी' का अर्थ 'बिजली' किया है)।

(७) श्रीनंगे परमहंसजी—मानो शोभाको घेरेमें कर लिया है।

(८) एक महात्माने 'शोभा' का अर्थ 'श्री' करते हुए लिखा है कि 'तिलककी दो रेखाएँ पीत रंगकी हैं, बीचकी श्री लाल रंगकी है। 'श्री' का अर्थ शोभा भी होता है, शोभाका भी रंग लाल है। अतः बीचकी 'श्री' शोभा हुई, वह बगलकी दोनों रेखाओंसे घिरी है। यही चाकना है।'

तिलकमें दो ऊर्ध्व-रेखाओंके बीचमें 'श्री' भी होती है यह प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंसे स्पष्ट है। 'श्री' के 'श्रीलक्ष्मीजी', 'श्रीजानकीजी', 'शोभा' और 'श्री' तिलक आदि अर्थ भी हैं; किन्तु 'श्री' (तिलक) और 'शोभा' पर्याय शब्द नहीं है। यदि शोभाका अर्थ 'श्री' (तिलक) होता तो यह भाव विशेष सुन्दर होता है। दूसरे, यदि कदाचित् 'शोभा' का अर्थ 'श्री'-तिलक हो भी, तो इस अर्थको लेनेसे 'जनु' शब्द व्यर्थ हो जाता है।

(९) प्र० सं० में कुछ और भी अर्थ दिये गये थे—(क) मानो शोभा वहाँ वर्तमान वा स्थिर है। (ख) मानो शोभा चारों ओरसे गोठ, मढ़ या दाब दी गयी है, परिपूर्ण है।

☞ मैं गौड़जी और श० सा० के अर्थको समीचीन समझता हूँ। वही अर्थ प्रथम संस्करणमें भी दिया गया था। अन्नकी जो राशि जमींदारका अंश होती थी, उसका प्रतिनिधि उसपर अपने हाथका चिह्न कर देता था। हाथकी छापको, चक्रकी छापको अथवा और किसी मुद्राकी छापको लगाकर किसी वस्तुको किसीके लिये अछूता या अंगौंगा करनेकी क्रियाका नाम 'चाँकना' है। तिलककी रेख क्या है,

मानो शोभाकी मुहर है, पेटेन्ट है। अब दूसरेकी ऐसी शोभा हो ही नहीं सकती। नकल नाजायज होगी।-यह भाव है। (प्र० सं०) सत्यके प्रमाणमें मुहर लगायी जाती है। भाव कि तिलकने मुहर दे दी कि यही सच्ची शोभा है। (वि० त्रि०)।

दो०—रुचिर चौतनीं सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस॥ २१९॥

शब्दार्थ—**चौतनीं**=बच्चोंकी टोपी जिसमें चार बंद लगे रहते हैं। (श०सा०)।=चौगसी=चार तनों वा बन्दोंवाली कामदार टोपी या मुकुट जिसमें बंदोंका जोड़ा कुण्डलके पीछे हर-एक कानके पास बँधता था।=चौगोशिया।=चारों ओरसे तनी हुई। चार कोनोंकी। (पाँ०) पंजाबीजी 'रंगीन चीरा' अर्थ करते हैं। **मेचक**=काले। **कुंचित**=घुँघराले=टेढ़े बल खाये हुए छल्लेदार। **नखसिख**=नखसे शिखा (चोटी) तकके सब अंग; सिरसे पैरतक; ऊपरसे नीचेतक। **सुदेस**=जहाँ जैसी चाहिये वैसी सुन्दर।=सुन्दर देश। 'सुन्दर', यथा—*'लटकन चारु भृकुटिया टेढ़ी मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाए।'* (गीतावली १ । २९) *'सीय स्वयंबरु जनकपुर सुनि सुनि सकल नरेस। आए साज समाज सजि भूषन बसन सुदेस॥'* (श०सा०)।=सुन्दर अङ्ग। (पं० रामकुमार)

अर्थ—सुन्दर सिरपर सुन्दर चौगोशिया टोपी है। काले घुँघराले बाल हैं। दोनों भाई नख-शिखसे सुन्दर हैं। सम्पूर्ण शोभा जहाँ जिस अङ्गमें जैसी चाहिये वैसी ही है, (समस्त सुन्दर अङ्गोंमें शोभा है)॥ २१९॥

टिप्पणी—१[(क) *'रुचिर चौतनीं'* इति। *'रुचिर'* से मणियुक्त डंकबीजा जरतारी विचित्र बनी हुई सूचित की। (वै०) गीतावलीमें भी नगरमें प्रवेशके समय 'चौतनी' ही सिरपर पहने कहा गया है। यथा—*'चौतनि सिरनि कनककली काननि कटि पट पीत सुहाए।'* (१। ६०) *'कल कुंडल चौतनी चारु अति चलत मत्त गज गौहैं।'* (१ । ६१) पुनः, 'रुचिर' से दीप्तिमान्, प्रकाशमान, और 'सुभग' से ऐश्वर्यमान् जनाया। (पाँ०)] (ख) कटिसे शोभाका वर्णन प्रारम्भ किया और मस्तकपर समाप्त किया। अर्थात् कटिसे शिखापर्यन्त ध्यानका वर्णन किया गया, इससे सन्देह हो सकता था कि कटिके नीचेके अङ्ग सुन्दर न होंगे। इस दोष एवं सन्देहके निवृत्यर्थ कहते हैं—*'नख सिख सुंदर'*, अर्थात् नखसे शिखातक सर्वाङ्ग सुन्दर है। यह दोहा १४७ तथा दोहा १९९ के वर्णनोंसे भी स्पष्ट है। अन्य अङ्गोंकी सुन्दरताका उल्लेख पाठक वहाँ देख सकते हैं। [स्मरण रहे कि यहाँ वीर-रसका ध्यान वर्णन किया गया है, अतः कटिसे सिरतकका ही वर्णन किया गया, इससे यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि नीचेके अङ्ग सुन्दर न होंगे। साहित्यके अनुसार वर्णन हुआ है। (ग) *'चितवनि'* को चारु कहा। चितवन नेत्रका व्यापार है, नेत्रके पास भृकुटी है, भृकुटिके समीप तिलक है, तिलकसे सटी चौतनी, चौतनीसे सटा सिर और सिरपर एवं सिरके समीप केश हैं—इस तरह क्रमसे शोभाका वर्णन किया गया। (घ) *'मेचक कुंचित केस'* से यह भी जनाया कि काले घुँघराले बाल कपोलोंपर लहराते हैं। गीतावलीमें कुंचित केशोंकी शोभाका सुन्दर वर्णन है। यथा—*'बिथुरित सिररुह बरूथ कुंचित, बिच सुमन जूथ मनिजुत सिसु-फनि-अनीक ससि-समीप आई॥'* (७। ३) (वै०)]

टिप्पणी—२ *'नख सिख……'* इति। (क) जब कटिसे शिखातकका वर्णन किया तब सब देश (अङ्ग) वर्णन किये, पर जब नख-शिख वर्णन किया तब कोई देश (अङ्ग) वर्णन नहीं किये। इसीसे नख-शिखके वर्णनमें कहते हैं—*'सोभा सकल सुदेस'* अर्थात् सकल सुदेशों (सुन्दर अङ्गों) में शोभा है। (ख) दोनों भाइयोंकी शोभा वर्णन की, इसीसे आदि और अन्त दोनोंमें 'शोभा' शब्द रखा। यथा—*'बालकबृंद देखि अति सोभा।'* (२१९। २) (आदिमें), *'नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस'।*

नोट—*'सोभा सकल सुदेस'* के और भाव—(१) *'सकल सोभा'* अर्थात् मूर्तिमान् शोभा औरोंके अङ्गोंमें मानो काल (अकाल, दुर्भिक्षग्रसित) देशोंमें (अर्थात् कुदेशमें) पड़ी हुई थी, वही इन दोनोंके अङ्गोंरूपी (धन-धान्यसे पूर्ण) सुन्दर देशमें आकर मोटी हो गयी। (पाँ०) (२) सुदेशमें पड़ना इससे कहा कि प्राकृत अङ्गोंमें एक-न-एक दिन अकाल पड़ेगा। वहाँ यह शोभा सदा एकरस नहीं बनी रह

सकती, (रोग, जरा आदि अनेक शत्रु उसको कब एक-सी रहने दे सकते हैं) और आपकी देह चिदानन्दमय है, इससे यहाँ सदा एकरस बनी रहेगी। अन्यत्र अकालमें पड़ी थी, यहाँ सुकाल पाकर हरी-भरी और सुखी हो गयी। (रा० च० मिश्र) (३) 'नखशिखमें तो सभी अङ्ग आ गये। सभी अङ्गोंकी शोभाका वर्णन तो इन शब्दोंसे हो गया और कुछ अङ्गोंकी शोभाका वर्णन पहले ही कर चुके हैं, तब तो यहाँ पुनरुक्ति दोष आ जाता है?' इस प्रश्नको उठाकर उसका समाधान यह करते हैं कि जैसे कटिसे ऊपरके अङ्ग पृथक्-पृथक् कहे, वैसे ही *'सोभा सकल सुदेस'* से कटिके नीचेके भी अङ्गोंको पृथक्-पृथक् जनाया। पुनः नखशिख सर्वाङ्ग सुन्दर है और शोभा अर्थात् शृङ्गार सकल सुदेश अर्थात् सम्पूर्ण अङ्गोंमें प्राप्त है, जहाँ जैसा चाहिये। मिलान कीजिये—*'नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर ठौर हैं।'* (गी० १। ७१)

लमगोड़ाजी—इस नखशिख वर्णनमें शृङ्गार और वीररस प्रधान है मगर शान्तरस भी मौजूद है।

प० प० प्र०—रूपका वर्णन कटि प्रदेशसे शुरू किया और भाथा, सायक, चाप आदिका आरम्भमें ही उल्लेख करके वीररस प्रधानरूप जनाया और सिरतकके मुख्य-मुख्य अङ्गोंका ही वर्णन शृङ्गाररसमें पर्यवसान किया—*'मेचक कुंचित केस'।* इस तरह जनाया कि देखनेवालोंका मन पहले तो वीररसमें लगता है पर आखिर शृङ्गाररसमें ही सब डुबकी लगाते हैं। वीररसको देखते ही भवचाप भङ्गकी आशा होगी, पर शृङ्गारकी अतिसुकुमारतापर दृष्टि पड़ते ही आशारस भङ्ग हो जायगा। और ऐसा हुआ ही है यह आगेके प्रसङ्गोंसे स्पष्ट है।

देखन नगर भूपसुत आए। समाचार पुरबासिन्ह पाए॥ १॥
धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥ २॥

शब्दार्थ—निधि—नोट ४ में देखिये।

अर्थ—श्रीदशरथजी महाराजके पुत्र नगर देखने आये हैं, (यह) खबर पुरवासियोंने पायी॥ १॥ सब घर और घरका सब काम-काज छोड़कर (ऐसे) दौड़े मानो दरिद्री कङ्गाल निधि लूटनेके लिये दौड़े हों॥ २॥

राजारामशरणजी—वर्तमानके स्टेजोंपर तो यह सीन दिखाया ही नहीं जा सकता। हाँ! फिल्म-कलाका यह बड़ा ही सुन्दर नमूना है।

टिप्पणी—१ (क) *'समाचार पुरबासिन्ह पाए'* इति। श्रीजनकजीके साथ मन्त्री, ब्राह्मण, ज्ञातिवर्ग इत्यादि बहुतसे लोग विश्वामित्रजीसे मिलने गये थे। *'समाचार पाए'* कहनेसे पाया जाता है कि उन साथके समस्त लोगोंने आकर अपने-अपने घरमें तथा इष्ट-मित्रोंसे अवश्य कहा होगा कि ऐसे-ऐसे परम सुन्दर दो राजकुमार चक्रवर्ती महाराजके मुनिके साथ आये हैं, देखने ही योग्य हैं। इत्यादि। इस तरह थोड़ी ही देरमें दोनों राजकुमारोंके सौन्दर्यका शुहरा सारे शहरमें मच गया। सभी दर्शनाभिलाषी हो रहे हैं। दर्शनको लालायित हो रहे हैं और उधर विश्वामित्रजी कोटके भीतर महलमें टिके हैं। वहाँ पहरा लगा है कि एकान्तमें रहनेवाले महात्मा आये हैं, वहाँ भीड़ होनेसे मुनिको कष्ट होगा; अतः कोई बिना उनकी आज्ञाके वहाँ न जाने पाये। पुरवासी वहाँ जा न सकते थे। जब वे नगर देखने आये, तब दर्शनकी सुगमता हुई। बालकवृन्द सङ्ग लग गये और इतनेहीमें समस्त पुरवासियोंको खबर मिल गयी कि दोनों राजकुमार पैदल ही नगर-अवलोकनार्थ आ रहे हैं। [*'आए'* शब्द प्रभुकी कृपाकी सूचना दे रहा है कि इनके मनोरथोंको पूरा करनेके लिये स्वयं ही आ रहे हैं।] ☞देखिये, ये नगर देखने आये और नगर इनको देखनेके लिये दौड़ा।

'धाए धाम काम सब त्यागी' इति।

रा० प्र०—घरके सब काम छोड़कर दौड़नेका भाव कि पहले पहुँचनेसे भलीभाँति देख सकेंगे, देर होनेसे भीड़के पीछे पड़ जायँगे। अथवा, कहीं वे चले न जायँ कि हमें दर्शन न हो सके।

पं० रामकुमारजी—*'धाम'* छोड़कर भागे अर्थात् घरमें किवाड़े न लगाये, ताला न बंद किया। *'काम त्यागी'* अर्थात् जो काम उस समय कर रहे थे वह वैसा ही छोड़कर चल दिये। [तात्पर्य कि इनके दर्शनरूपी निधिके आगे धाम और सब काम आदि निधियाँ तुच्छ हैं। जो इनको छोड़ धन-धामादिमें

लगते हैं, विधाताको उनके प्रतिकूल समझना चाहिये] यथा—'*परिहरि लखन रामु बैदेही। जेहि घरु भाव बाम बिधि तेही॥*' (२। २८०) '*जरौ सो संपति सदन सुखु सुहद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करै न सहस सहाइ॥*' (२। १८५) [धामको अरक्षित छोड़ा, काम भी आधेमें छोड़ा, बिगड़ जाने दो; अतः 'त्यागी' कहा। (वि० त्रि०)]

नोट—१ इस सम्बन्धमें भा० स्कन्ध १० अ० २९ पढ़ने योग्य ही है। शरद्पूनोकी रात्रिमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने बाँसुरी बजाकर मधुर मनोहर गीत गाना प्रारम्भ किया; त्यों ही वे व्रजगोपिकाएँ कामोद्दीपक गानको सुनकर झटपट झपटती हुई चल दीं, उतावलीके मारे कोई किसीको नहीं बुलाती। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि वे इतनी, वेगसे चली थीं कि उनके कानोंके हिलते हुए कुण्डल अब भी मुझे दीख-से रहे हैं। जो दूध दुह रही थी वह अत्यन्त उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर वैसे ही चल पड़ी। कोई चूल्हेपर चढ़ा हुआ मोहनभोग, कोई उफनता हुआ दूध बिना आगपरसे उतारे ज्यों-की-त्यों छोड़कर चल दी। जो पतिको भोजन करा रही थी वह परसना छोड़कर, जो गोदके बच्चोंको दूध पिला रही थीं वे दूध पिलाना छोड़कर, जो पतियोंकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं वे सेवा-शुश्रूषा छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन करना छोड़कर, जो अपने शरीरमें अङ्गराग लेप रही थीं, जो चन्दन, उबटन या आँखोंमें अञ्जन लगा रही थीं वे सब अपना-अपना काम छोड़कर अपूर्ण शृङ्गारसे ही जैसे-तैसे उलटे-सीधे आधे-चौथाई भूषणवस्त्र पहिने बड़ी उतावलीसे भगवान् कृष्णके पास पहुँचनेके लिये दौड़ पड़ीं।

ठीक वैसी ही दशा यहाँ '*धाए धाम काम सब त्यागी*' पद देकर श्रीमद्गोस्वामिपादने दर्शित करायी है। भेद केवल इतना अवश्य है कि वहाँ रासविहारमें तो भगवान्की वंशीकी मधुर ध्वनि और उसपर भी कामोद्दीपक मधुर मनोहर गानने गोपियोंके मनको हरण किया था जिससे विह्वल होकर वे इस प्रकार उत्सुकतासे बिना किसी सार-सँभारके चल दीं और यही नहीं वरञ्च अपने पिता, पति, भ्रातादिके रोकनेपर भी न रुकी थीं। और यहाँ तो युगल श्रीराजकुमारोंके नगरदर्शनका समाचारमात्र ही सुनकर सब दौड़ उठे—'*समाचार पुरबासिन्ह पाए॥ धाए धाम काम सब त्यागी।*' इतना ही नहीं किन्तु वहाँ तो गोपिकाओंको लोगोंने रोका भी था और यहाँ तो रोकता ही कौन? सब-के-सब ही तो दर्शनके लिये बावले हो रहे थे, रोकनेवाले स्वयं ही उस प्रेमडगरियापर पग धर चुके थे, स्वयं ही भागे चले जा रहे थे।

नोट—२ ☞ उपदेश—इसी तरह जो वासनाओंको छोड़कर, निष्काम, धन-धामादिकी पर्वा न करके भगवान्की ओर 'धावते' हैं उनको 'प्रभु' अवश्य प्राप्त होते हैं—'*जरउ सो संपति सदन सुख*……'।

प० प० प्र०—'**काम**' शब्द मानसमें ८० बार आया है। इसका अर्थ 'काज', 'कार्य' कहीं नहीं है। अतः यहाँ और '*मगबासी नर नारि सुनि धामकाम तजि धाइ।*' (२। २२१) में 'धामको भूलकर और कामका त्याग करके '*धाए*' ऐसा ही अर्थ करना उचित है। उदाहरण यथा—'*राम भजिय सब काम बिहाई।*' (४। २३। ६) *जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम।*' (५। ४६) '*सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी। भजहु नाथ ममता सब त्यागी॥*' (६। ७। ५) '*भजिअ राम तजि काम सब।*' (७। १०४) इत्यादि। (मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यहाँ 'धाम' के साथ 'काम' का अर्थ कार्य ही उचित है। धाम काममें अनुप्रास है। भागवतके उद्धरणके अनुकूल भी है।)

नोट—३ निधिके लिये उद्योग करना चाहिये, इसीसे धाए। यथा—'**उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः**'। '*समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनमु फलु पाई॥ अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं॥*' (२। १२१)

नोट—४ निधियोंके नाम—पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नन्दक, नील और शङ्ख। यथा-'**यत्र पद्ममहापद्मौ तथा मकरकच्छपौ। मुकुन्दो नन्दकश्चैव नीलः शङ्खोऽष्टमो निधिः॥**'(मार्क० पु० अ० ६५। ५) (१) पद्म नामक निधि सत्त्वगुणका आधार है। इसके प्रभावसे मनुष्य सोने, चाँदी और ताँबे आदि धातुओंका अधिक मात्रामें संग्रह एवं क्रय-विक्रय करता है। धर्म, दान, यज्ञादि भी करता है (२) महापद्म भी सात्त्विक

है। जो मनुष्य इसके आश्रित होता है वह पद्मराग आदि मणि, मोती और मूँगा आदिका संग्रह एवं क्रय-विक्रय करता है, योगियोंको दान देता है, और वह और उसके पुत्र-पौत्रादि उसी स्वभावके होते हैं। महापद्मनिधि सात पीढ़ियोंतक उसका त्याग नहीं करती! (३) मकर नामक निधि तमोगुणी होती है। उसकी दृष्टि पड़नेपर सुशील मनुष्य भी प्रायः तमोगुणी बन जाता है। वह बाण, खड्ग, धनुष, ढाल आदिका संग्रह करता, राजाओंसे मित्रता जोड़ता, शौर्यसे जीविका चलानेवाले क्षत्रियों तथा उनके प्रेमियोंको धन देता है। अस्त्र-शस्त्रोंके सिवा और किसी वस्तुके क्रय-विक्रयमें उसका मन नहीं लगता। ऐसा मनुष्य लुटेरोंके हाथसे अथवा संग्राममें मारा जाता है। (४) कच्छप निधिकी दृष्टि पड़नेपर भी मनुष्यमें तमोगुणकी प्रधानता होती है। इसके आश्रित मनुष्य पुण्यात्माओंके साथ व्यवहार करता है। यह सब ओरसे रत्नोंका संग्रह करता और उसकी रक्षाके लिये व्याकुल रहता है। यह धनको गाड़कर रखता है, न दान करता है, न अपने उपभोगमें ही लाता है। (५) मुकुन्द नामकी निधि रजोगुणमयी है। जिसपर इसकी दृष्टि पड़ती है वह मनुष्य रजोगुणी होता है, वीणा-वेणु, मृदङ्ग आदि वाद्योंका संग्रह करता है और नाचने-गानेवालोंहीको धन देता है। (६) नन्दक नामकी निधि रजोगुण और तमोगुण दोनोंसे संयुक्त है। इसकी दृष्टि पड़नेपर मनुष्य अधिक जड़ताको प्राप्त होता है। यह समस्त धातुओं, रत्नों और पवित्र धान्य आदिका संग्रह तथा क्रय-विक्रय करता है, स्तुति करनेवालेको सब कुछ देता है। उसके बहुत-सी स्त्रियाँ होती हैं जो संतानवती और सुन्दरी होती हैं। वह सदा नवीन मित्रोंसे प्रेम करता है, दूरसे आये हुए बन्धु-बान्धवोंका भरण-पोषण करता है। (७) नील महानिधि सत्त्व और रजोगुणसे संयुक्त होती है। इसके आश्रित मनुष्य वस्त्र, कपास, धान्य, फल, फूल, मोती, मूँगा, शङ्ख, सीपी, काष्ठ तथा जलसे पैदा होनेवाली अन्यान्य वस्तुओंका संग्रह एवं क्रय-विक्रय करता है। यह मनुष्य तालाब, बावली आदि बनवाता, पुल बँधवाता, वृक्ष रोपता, चन्दन और फूल आदि भोगोंका उपभोग करके ख्याति लाभ करता है। यह निधि तीन पीढ़ियोंतक चलती है।(८) आठवीं निधि जो शङ्ख नामकी है वह रजोगुण और तमोगुणसे युक्त होती है तथा अपने स्वामीको भी ऐसे ही गुणोंसे युक्त बना देती है। वह मनुष्य अपने कमाये हुए अन्न और वस्त्रका अकेला ही उपभोग करता है। उसके कुटुम्बी खराब अन्न खानेको और साधारण वस्त्र पहननेको पाते हैं।

पद्मिनी नामकी विद्या इन सब निधियोंकी अधिष्ठात्री वा स्वामिनी है और साक्षात् लक्ष्मीजीका स्वरूप है। ये सब निधियाँ मनुष्योंके अर्थकी अधिष्ठात्री देवी कहलाती हैं, इन सबका आधार पद्मिनी विद्या है। देवताओंकी कृपा तथा साधु-महात्माओंकी सेवासे प्रसन्न होकर जब ये निधियाँ कृपादृष्टि करती हैं तब मनुष्यको सदा धन प्राप्त होता है—(मार्कण्डेय पुराणमें अष्टनिधियाँ बतायी गयी हैं। कोई-कोई 'महाशङ्ख' नामकी भी एक निधि कहते हैं। निधियाँ क्या हैं, यह किसीने नहीं लिखा। इसीसे हमने खोजकर उनका उल्लेख प्रमाणसहित कुछ विस्तारसे कर दिया है)।

'मनहुँ रंक निधि लूटन लागी' इति।

पं० रामकुमारजी—१ *लागी* =निमित्त, लिये। यथा—*'तुम्हहि लागि धरिहौं नरदेहा', 'एक जनम तिन्हके हित लागी'।* 'मानो रङ्क निधि लूटने लगे' यह अर्थ नहीं है, क्योंकि अभी तो निधितक पहुँचे ही नहीं हैं, लूटेंगे कैसे? लूटनेके लिये दौड़े। २—श्रीदशरथजी महाराजने मनु शरीरसे तेईस हजार वर्ष तपस्या की तब यह निधि मिली। विश्वामित्रजी इस निधिको राजासे माँगकर ले आये, यथा—*'स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। विश्वामित्र महानिधि पाई॥'* [अर्थात् इस निधिके विश्वामित्र ऐसे महामुनि याचक बने थे, तब कहीं उनको मिली थी—*'मैं जाचन आएउँ नृप तोही'।* और वह भी कितनी कठिनतासे, वसिष्ठजीकी सिफारिशसे मिली थी। उसी निधिको जनकपुरवासी लूटनेको दौड़े। तात्पर्य कि ऐसी दुर्लभ निधि मिथिलावासियोंको लूटमें मिली। लूटनेका अभिप्राय यही है कि ऐसी निधि अपने ही आप, अपनी खुशीसे आ गयी, बाजारमें बिना मोलके मिल गयी, न तो तप ही करना पड़ा और न उसके लिये याचक ही बनना पड़ा; आप-से-आप मिल गयी। [यहाँ माधुर्य-रस शृङ्गार आनन्द ही 'निधि' है,

जिसे नेत्ररूपी हाथोंसे लूटकर सब आनन्दित हुए। दर्शनाभिलाषी पुरवासी रङ्क हैं, श्रीराम-लक्ष्मणजी निधि हैं, सुगमतासे दर्शन पा जाना लूटना है।]

पाँड़ेजी—यहाँ रङ्ककी उत्प्रेक्षाका भाव यह है कि 'योगिराज राजा जनककी प्रजावर्ग रघुवंश ऐश्वर्यके दरिद्री थे।' [रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि 'राजा जनक निराकारके उपासक साकाररूप धनके कँगले थे, तो उनकी प्रजा क्यों न कँगली हो? अतः अब साकार धन पाकर लूटने लगे।' यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है]

रा० प्र०—भाव कि जैसे धन लूटनेमें कँगले धक्का आदिसे नहीं डरते वैसे ही ये सब धक्का सहते, धक्का देते दौड़े जा रहे हैं। [श्रीराम-लक्ष्मण दोनों यहाँ 'निधि' हैं, जैसा *'देखन नगर भूपसुत आए'* से सिद्ध है *'भूपसुत' 'आए'* बहुवचन हैं। इनमेंसे श्रीरामजी तो श्रीसीताजीकी *'निज निधि'* हैं; यथा—*'देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥'* (२३२। ४) *'मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई॥'* (२४८। ८) परन्तु पुरवासी इस बातको अभी जानते नहीं हैं, इसीसे कँगलेकी तरह दौड़े हैं। दूसरे आज प्रथम दर्शन होनेको है, न जाने यहाँ कितने दिन ठहरें, फिर दर्शन हो या न हो, अतः *'धाए धाम·····'*।]

निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन फल पाई॥ ३॥
जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**झरोखा**—दीवार आदिमें बनी हुई झँझरीदार (जालीदार वा छेदवाली) छोटी खिड़की या मोखा जिसे हवा और रोशनी आदि आनेके लिये बनाते हैं। **झरोखन्हि**=झरोखोंमें, झरोखोंसे।

अर्थ—सहज ही सुन्दर दोनों भाइयोंको देखकर नेत्रोंका फल पाकर सुखी होते हैं॥ ३॥ स्त्रियाँ घरके झरोखोंसे लगी हुई अनुरागपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीके रूपको देख रही हैं॥ ४॥

नोट—१ *'सहज सुंदर'* इति। वनवासके समय इन दोनोंकी सहज सुन्दरताका प्रमाण मिलता है; क्योंकि उस समय वस्त्र-भूषण-रहित उदासी वेष है। उस समय इनका सौन्दर्य देख ऋषि-मुनि, पशु-पक्षी सभी विस्मित हो गये और अनिमिष नेत्रोंसे देखते रह गये। यथा—'**रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥ वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव। आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः॥**' (वाल्मी० ३। १। १३-१४) त्रिपाठीजी ठीक ही लिखते हैं कि शृङ्गारसे श्रीरामजीकी शोभामें आधिक्य नहीं होता, बल्कि शोभा ढक जाती है; इसलिये दोनों भाइयोंको सहज सुन्दर कहा।

टिप्पणी—१ (क) *'सहज सुंदर'* इति। भाव कि इस समय दोनों भाई सामान्य शृङ्गारसे हैं, इसीसे कहते हैं कि शृङ्गारकी अपेक्षा कुछ नहीं है, दोनों भाई तो स्वाभाविक ही, जन्मसे ही, बिना बनाव-शृङ्गारके ही सुन्दर हैं। (ख) विश्वामित्रजीने आज्ञा दी थी कि *'सुखनिधान दोउ भाइ। करहु सुफल सबके नयन'*, उसीको यहाँ चरितार्थ करते हैं। 'तुम दोनों सुखनिधान हो, सबको सुख दो' ये वचन *'निरखि सहज सुंदर दोउ होहिं सुखी·····'* में चरितार्थ हैं और *'करहु सुफल', 'सबके नयन', 'लोचन फल पाई'* में चरितार्थ हुए हैं। सब सुखी हुए और सबने लोचनका फल पाया। जिस क्रमसे गुरुने आज्ञा दी, उसी क्रमसे उनके वचन चरितार्थ हुए। प्रथम *'सुखनिधान'* कहा पीछे *'करहु सुफल'*, वैसे ही यहाँ प्रथम *'होहिं सुखी'* और पीछे *'लोचन फल'* पाना कहा। [(ग) *'सहज'* को दीपदेहली भी मान सकते हैं। क्योंकि जो *'जप तप'* आदिसे भी ध्यानमें नहीं आ सकती वही सहज सुन्दर मूर्ति इनको सहज ही बिना किसी परिश्रमके देखनेको मिल गयी। (घ) साकार प्रभुके सौन्दर्यका दर्शन ही नेत्रोंका फल है। इस फलसे ये वञ्चित थे सो आज इन्हें प्राप्त हो गया। (रा० च० मिश्र) यह सहज सुन्दरता ही निधि है जिसके लिये दौड़े थे।]

'जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं।·······' इति।

पं० रामकुमारजी—(क) प्रथम सबका 'धावना' कहा—*'धाए धाम काम सब त्यागी'*। अब उसकी व्याख्या करते हैं कि कौन कहाँको धावे। पुरुष गलियोंमें धाये और युवतियाँ झरोखोंमें जा लगीं। प्रथम बालकोंने देखा जो बाहर खेल रहे थे, तब पुरुषोंने देखा जो अपने-अपने स्थानके बाहर जा बैठे हैं,

तत्पश्चात् स्त्रियोंने देखा जो घरके भीतर रहीं। इस तरह क्रमसे देखना लिखते हैं। अथवा, बालक और पुरुषोंका देखनामात्र लिखा है और, स्त्रियोंका संवाद लिखनेको हैं; इसीसे प्रथम बालक और पुरुषोंका देखना लिखकर पीछे सूचीकटाहन्यायसे स्त्रियोंका देखना लिखा। [☞सहज काममें पहले हाथ लगाना तब कठिन काम करना, इसीके दृष्टान्तमें 'सूचीकटाहन्याय' कहा जाता है।] (ख) रामरूप देखनेसे अनुराग होता है, यथा—*'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा'।* जिनके रूपका वर्णन सुनकर अनुराग होता है उनके दर्शन करनेपर जो अनुराग होगा उसे कौन कह सकता है एवं उनको देखनेपर अनुराग होनेकी क्या कही जाय? (ग) पुरुष तो दोनों भाइयोंको देखते हैं *'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई'* । परन्तु स्त्रियाँ केवल रामरूपको देखती हैं।—तात्पर्य यह है कि पुरुषोंकी भावना दोनों भाइयोंकी सुन्दरतामें है, यथा—*'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई॥'* (२४१। ८) और स्त्रियोंकी भावना श्रीरामजीके रूपमें है, यथा—*'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥'* (२४१) श्रीरामजी शृङ्गारकी मूर्ति हैं—**'श्यामो भवति शृङ्गारः'**। ☞यहाँ कवि स्त्रियोंकी भावनामात्र दिखा रहे हैं; इसीसे *'निरखहिं राम रूप अनुरागी'* कहा, नहीं तो उनका दोनों भाइयोंका देखना आगे उनके दोनों भाइयोंके सौन्दर्य वर्णनसे स्पष्ट ही है।

नोट—☞ २ (क) स्त्रियोंको शृङ्गार प्रिय होता है। शृङ्गारका रङ्ग श्याम माना गया है और श्रीरामजी श्याम हैं। अतः स्त्रियाँ इन्हींको देख रही हैं। *'अनुरागी'* कहकर जनाया कि देखा तो दोनों भाइयोंको, पर श्रीरामरूपको देखकर उसपर अनुरक्त हो गयी हैं। बैजनाथजीका मत है कि केवल युवावस्थावाली नवयौवना स्त्रियाँ संकोचके कारण झरोखोंसे लगी देखती थीं। और, रा० च० मिश्रके मतानुसार भवनके झरोखोंमें लगी हुई जो स्त्रियाँ हैं उनमें कोई मध्या, कोई मुग्धा और कोई प्रौढ़ा आदि सभी प्रकारकी स्त्रियाँ थीं। (ख) श्रीरामरूपमें किस प्रकार कैसा अनुराग है यह सत्योपाख्यानमें वर्णित पुर-स्त्रियोंकी दशा जो वहाँ मुनिको जनकपुरके राजमहलमें लानेपर हुई थी उदाहरणमें दी जा सकती है। वह यह है कि श्रीलक्ष्मणजीसे सेव्यमान कोटि कामदेवोंके समान सुन्दर सदा मुस्काते हुए बोलनेवाले सौशील्यादि गुणोंसे युक्त श्रीरामजीको देखकर स्त्रियाँ जामातृसुखकी इच्छा करने लगीं कि ये दोनों हमारे जामाता हों और श्रीरामजीकी ओर बारंबार मुस्कुराकर देखती हुई उनको मोहित करनेके लिये (अर्थात् ये हमारी ओर किसी प्रकार देखें।) अनेक हाव-भाव करने लगीं। कोई तो श्रीरामजीको देखकर उनके मुखारविन्दका ध्यान करती हुई लंबी श्वास छोड़ने लगीं। कोई देखकर कहती हैं कि ये मानो कामदेव ही रूप धरकर आये हैं, कोई अपने रत्नजटित नूपुर बाँधने लगीं, कोई अपने रंगीन दाँतोंको ही दर्पण लेकर देखने लगीं, कोई हाथमें कमल लेकर उसीको फाड़ने टुकड़े-टुकड़े करने लगीं। इत्यादि। यथा—**'लक्ष्मणेनापि गौरेण भूषितेन तथैव च॥ २९॥ सेव्यमानं सदा तेन''''''''''''। सौशील्यादिगुणैर्युक्तं'''''' । ३१। कोटिकन्दर्पलावण्यं स्मितपूर्वाभिभाषणम्। एवं पश्यन्ति ताः सर्वा जनकस्य पुरस्त्रियः॥ ३२॥ रामं च लक्ष्मणं चैव जामातृसुखवाञ्छया। मुहुः रामं निरीक्ष्यन्त्यः सस्मिताश्च वराननाः॥३३॥ हावभावं च कुर्वन्त्यो राममोहाय सत्वरम्। काचिद्रामं निरीक्ष्यैव ध्यायमाना मुखाम्बुजम् ॥३४॥ मुहुर्मुहुश्च निःश्वासं मुञ्चमाना इतस्ततः। काचिदेवं ध्यायमाना मन्दं दृष्ट्वा मनोरमम्॥ ३५॥ कामाकृतिः कुमारोऽयं'''''''' नूपुरं च बबन्धाथ पादयो रत्नशीलितम्। करादर्शे निरीक्षन्ती दन्तपंक्तिं सुरञ्जिताम्॥ ४१॥ काचित्कमलपुष्पं च पाटयामास पाणिना।''''''४२ एवं पश्यन्ति ताः सर्वाः किशोरौ रामलक्ष्मणौ॥ ४३॥'** (उत्तरार्ध अ० ७) पर रामचरितमानसपर श्रेष्ठ मर्यादा-चरित्रका आदर्श है, अतएव सत्योपाख्यानका उदाहरण केवल शृङ्गारियोंके कामका है, अन्यके लिये नहीं। मानसके जनकपुरनिवासी तो *'पुर नर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता॥'* हैं, यह पूर्व ही दोहा २१३। ६ में कविने बताकर हमें सावधान कर दिया है।

कहहिं परसपर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥५॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं॥६॥

अर्थ—आपसमें एक-दूसरेसे प्रेमसहित बातें कर रही हैं, कहती हैं—हे सखि! इन्होंने करोड़ों कामदेवोंकी छबिको जीत लिया है। अर्थात् इनमें करोड़ों कामदेवोंकी छबिसे भी अधिक छबि है॥ ५॥ देवता, मनुष्य, दैत्य-दानव-राक्षस, नागदेव और मुनियोंमें (तो) ऐसी शोभा कहीं सुननेमें भी नहीं आती॥ ६॥

नोट—१ *'निरखहिं राम रूप अनुरागी'* कहकर *'कहहिं परसपर……'* कहनेका भाव कि अनुरागपूर्वक देखती जा रही हैं और दूसरोंसे छबिकी प्रशंसा भी करती जाती हैं। दृष्टि बराबर श्रीरामरूपमें ही डटी हुई है। पहले देखनेमें अनुराग कहा, अब उनके सौन्दर्यकी चर्चामें, उसके कथनमें भी अनुराग दिखाते हैं। सखी सखीसे हृदयकी बात अब खोलकर कहती है, यह *'कहहिं परसपर'* से जना दिया।

टिप्पणी—१ *'कहहिं परसपर बचन सप्रीती'* अर्थात् जितनी भी बातें वे कह रही हैं, वे सब प्रीतिसहित कह रही हैं। ☞प्रसङ्गभरका हाल यहाँ प्रारम्भमें कह दिया कि आगेकी सारी वार्ता प्रीतियुक्त है।

नोट—२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि *'परसपर'* और *'सप्रीती'* से ज्ञात होता है कि सब प्रेमोद्गारसे ऐसी भरी हुई हैं कि उनको कहनेके सिवा यह ज्ञान नहीं है कि वे किससे कहती हैं और कौन सुनता है। कोई सुनता भी है या नहीं, इसका तो किसीको भी ज्ञान नहीं, सभी कह रही हैं तो सुनेगा कौन? दासकी समझमें 'परस्पर' का भाव यह है कि सभी एक-दूसरेसे आपसमें कहती-सुनती हैं। ऐसा न होता तो आगे यह कैसे कहते कि *'जो मैं सुना सो सुनहु सयानी', 'आए देखन चापमख सुनि हरषीं सब नारि।'* इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि एक कहती है, दूसरी कुछ सखियाँ सुनती हैं।

नोट—३ (क) 'जो युवतियाँ भवनके झरोखोंमें लगी हुई अनुरागपूर्वक राम-रूपको देख रही थीं, उनकी वार्ता यहाँ समष्टिरूपसे दिखाकर सबके वचनोंको प्रकट नहीं किया। आगे उत्तरार्धसे अष्ट सखियोंका संवाद व्यष्टिरूपसे प्रकट करते हैं। अष्ट सखियोंके नामादि 'श्रीजानकी-रहस्य' के सर्ग ८ में हैं। यथा—**'लक्ष्मणा शुभ्रशीला च भद्रा मानवती तथा। लीला श्यामा च शान्ता च सुशीला ह्यष्टसंख्यकाः॥ १॥ इमाः सीताप्रियाः सख्यो युवती मध्यगा स्थिताः। यथारुचि क्रमाद्वाक्यं जगदुस्तत्त्वसूचिकाः॥ २॥ लक्ष्मणा वीरसेनस्य प्रिया भार्या प्रकीर्तिता। शुभ्रशीला सुभद्रस्य श्यामा सुन्दरवल्लभा॥ ३॥ शान्ता वीरमणेर्भार्या शेषाः सख्यः कुमारिकाः। प्रवीणाः सकलाः सौम्या जानकीप्राणवल्लभाः॥ ४॥'** अर्थात् लक्ष्मणाजी, शुभ्रशीलाजी, भद्राजी, मानवतीजी, लीलाजी, श्यामाजी, शान्ताजी और सुशीलाजी अष्ट सखियाँ जो श्रीजानकीजीकी प्रिय थीं उन स्त्रियोंके मध्यमें थीं। वे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार तत्त्वसूचक बातें कहने लगीं। १-२। लक्ष्मणाजी वीरसेनकी, शुभ्रशीलाजी सुभद्रजीकी, शान्ताजी वीरमणिजीकी स्त्री थीं। शेष सखियाँ कुँआरी थीं। (रा० च० मिश्र)

टिप्पणी—२ *'सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती।'* इति। (क) सब देवताओंमें काम सबसे अधिक सुन्दर है। इसीसे प्रथम उसीको लेकर कहती हैं कि कोटि-काम-छबि भी इनकी छबिके सामने तुच्छ है। यथा—*'सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥'* (२४३। १) (आगे स्वयं कहती हैं—*'अंग अंग पर वारिअहिं कोटि-कोटि सत काम।'* (२२०) गीतावलीमें भी पुरवासियोंके ऐसे ही वचन हैं, यथा-*'रोम-रोम पर सोम काम सत कोटि वारि फेरि डारे।'* (१। ६६) जानकी-मंगलमें भी कहा है—*'गौर स्याम सतकोटि काम मद मोचन।'* (३१) मानसमें भी—*'स्याम सरीरु सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥'* (३२७। १) इत्यादि।

नोट—४ *'कोटि काम छबि जीती'* इति। (क) अर्थात् करोड़ों कामदेवोंको जीतकर उनकी समूह छबिको ले लिया है। भाव यह कि जैसे शत्रुका पराजय होनेपर उसके यहाँ जो अमूल्य पदार्थ होते हैं उनको जयमान राजा छीनकर ले लेता है। वैसे ही असंख्यों कामदेवोंने अपने छबिके गर्वमें आकर मानो श्रीरामजीका मुकाबला किया। (कामदेव भी श्याम है, द्विभुज और धनुर्धर है तथा वीर है, यथा—*'जाकी प्रथम रेख जग माहीं।'* (विनय ४) *'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥'* (२५७। १) उन असंख्यों कामदेवोंरूपी शत्रुओंका पराजय कर सबोंकी छवि-समूहको छीनकर

इन्होंने अपने पास रख लिया। काम इनके आगे अब छबि-रूपी धनसे रहित हो गया। (ख) असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक कामदेव हैं, इस प्रकार सब मिलकर असंख्यों कामदेव हुए। (वैं०) यह अनुमानसे काव्यार्थापत्यालङ्कार है कि जब इन्होंने करोड़ों कामदेवोंको जीत लिया तब और देवताओंकी कौन बात है। (वै०) वीरकविजी प्रतीप अलङ्कार कहते हैं। (ग) पुनः भाव कि 'इनकी छबिने करोड़ोंकी कामनाओंको जीत लिया है। पर युवा स्त्री ऐसा नहीं कह सकती कि हमारी कामनाको जीत लिया है किन्तु करोड़ोंके बहानेसे अपनी कामनाको प्रकट कर रही है।'-(पाँ०)

टिप्पणी—३ (क) *'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं।'* इति। सुरसे स्वर्ग, नरसे मर्त्य, असुर और नागसे पाताल, इस तरह तीनों लोकोंके निवासियोंमें ऐसी शोभाका कहीं भी न होना जनाया। यथा—*'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केंते॥ हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥'* (३। १९) (ख) *'सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं'* इति। [रूपकी शोभा नेत्रका विषय है और कथा-वार्ता आदि सुनना श्रवणका विषय है, पर यहाँ कवि कहते हैं *'सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं'* अर्थात् शोभाको यहाँ श्रवणका विषय कह रहे हैं। यह क्यों?—यह गोसाईंजीका सँभाल है। देखनेसे सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ सर्वत्र घूमती फिरती रही हैं। अतः इस दूषणके निवारणार्थ उनका सुनना लिखा। *'सुनिअत नाहीं'* कहकर सूचित करते हैं कि ये कुलवधुएँ हैं, घरके भीतरकी रहनेवाली हैं, इन्होंने पुराणादिकी कथाएँ सुनी हैं और आज इन दोनों भाइयोंको देखा है। देखिये, जब शूर्पणखाने कहा कि *'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥'* तब श्रीरामजीने *'देखेउँ'* शब्दसे तुरत जान लिया कि यह स्त्री कुलटा है। इसी तरह खर-दूषण राक्षस सर्वत्र गये हैं, तीनों लोकोंमें घूमे-फिरे-लड़े हैं, उन्होंने तीनों लोकोंके पुरुषोंको देखा है, इसीसे उन्होंने सबको देखना कहा—*'देखी नहिं असि सुंदरताई'*।] ये स्त्रियाँ परदेमें रहनेवाली हैं, इन्होंने आँखोंसे नहीं देखा है, (घरके पुरुषोंसे सुना भर है; इसीसे *'सुनिअत नाहीं'* कहती हैं। (नोट ☞ यह अर्धाली सूत्र-सी है। इसीकी व्याख्या आगे वे स्वयं ही कर रही हैं। यह भी सिद्ध होता है कि परदेका नियम प्राचीन कालमें भी था।)

बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥ ७॥
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखि पटतरिय जाही॥ ८॥

शब्दार्थ—**अपर**=और, दूसरा, अन्य। **आही**=है। **पटतर**=समता, समानता, उपमा। **पटतरिय**=उपमा दीजिये, सदृश कहा जाय।

अर्थ—विष्णु भगवान्‌के चार भुजाएँ हैं, ब्रह्माजीके चार मुख हैं और त्रिपुरदैत्यके शत्रु श्रीशङ्करजीके पाँच मुख हैं और भयङ्कर वेष है॥ ७॥ अन्य देवताओंमें ऐसा कोई नहीं है जिससे हे सखी! इस छबिकी पूर्ण उपमा दी जा सके॥ ८॥

श्रीराजारामशरणजी-शैक्सपियरसे भी बढ़कर इस नाटकीय युक्तिका प्रयोग तुलसीदासजीने किया है, जिसके द्वारा अनेक दृष्टिकोणोंसे बड़ी रोचकता और भावपूर्णताके साथ किसी व्यक्तिगत दृश्य या परिस्थितिकी आलोचना करायी जाती है। यहाँ सखियोंकी वार्तामें इसी युक्तिका बड़ा ही सुन्दर प्रयोग है। यदि प्रत्येक दृष्टिकोणका निरीक्षण किया जाय तो नोट बढ़ जायगा, लेकिन पाठकोंको आनन्द लूटनेके लिये मजा ले-लेकर पढ़ना चाहिये और सब दृष्टिकोणोंको विचारना चाहिये।

किस सुन्दरतासे रामरूपकी सुडौल मूर्तिको सब देवोंसे उत्तम प्रमाणित किया है। इसी प्रकार उधर श्रीसीताजीकी तुलनामें *'गिरा मुखर तन अरध भवानी'* इत्यादि देव-शक्तियोंको उतार देंगे। परात्पर ब्रह्मरूप और आदि-शक्तिकी महानता महत्ताको किस रोचकतासे दिखाया है। शृङ्गारका आनन्द और शान्तरसका पुट सराहनीय है। महाकाव्यकला और नाटकीकला एक होकर मनोरम बन गयी है।

नोट—१ ब्रह्माण्ड भरके अतिशय सुन्दर पुरुषोंको यहाँ गिनाया है। जब इन्हींमें कोई उपमान होनेके

योग्य नहीं ठहरता तब दूसरा कौन है जिसकी उपमा दें। *'अपर देव'* में कामदेव भी आ गया। वह भी उपमा योग्य नहीं, यह पूर्व ही कह चुकी हैं—*'सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती'।*

'बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी।' इति।

पंजाबीजी······भाव यह है कि 'किसीके हाथमें एक छठी अँगुली होती है तो बुरी लगती है और जहाँ दो भुजाएँ अधिक हों भला वहाँ शोभा कहाँ? उसमें द्विभुज-शरीरकी-सी शोभा कहाँ? पुनः शरीरके प्रमाणसे यदि किसीका सिर या नासिका भारी होती है तो शरीरकी शोभा न्यून हो जाती है और एक शरीरपर चार-पाँच सिर हुए तो एक सिर-जैसी शोभा कहाँ हो सकती है? पुनः. शरीर भी सुन्दर हो और वस्त्रादि न हुए तो भी शोभा पूर्ण नहीं होती फिर जहाँ बाघाम्बर, सर्प, विभूति और पाँच सिर हों वह पीताम्बर और दिव्य आभूषणोंसे संयुक्त शरीरकी छबि कैसे पा सकता है?'

पं० रामकुमारजी—१ (क) बहुत अङ्ग होनेसे विराट्का-सा रूप हो जाता है; यथा *'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥'* (२४२। १) विराट्की गिनती शोभामें नहीं है। *'बिष्नु चारिभुज'* कहकर जनाया कि उनमें शोभा न रह गयी। एक अँगुली बढ़ जानेसे शरीर अशोभित लगता है तब दो भुजाएँ अधिक होनेसे शोभा कहाँ? चार भुजाओंसे अधिक अशोभा चार मुखकी है, इससे विष्णुको कहकर तब ब्रह्माको कहा और चार मुखसे अधिक अशोभा पञ्चमुखकी है, इससे पञ्चमुख शङ्करजीको अन्तमें कहा। इस तरह यहाँ उत्तरोत्तर अशोभाकी अधिकता कहते हैं। (ख) चार मुख होनेसे चार ललाट, चार नासिकाएँ, चार मुँह, चार ठोढ़ी, आठ भृकुटी, आठ कपोल और आठ नेत्र हैं, अतएव इनके सामने वे कैसे भद्दे लगेंगे। और, शङ्करजी तो इनसे भी भद्दे हैं, उसपर भी उनका विकट वेष है, अर्थात् नङ्गे, नृकपालमालाधारी, भस्म रमाये, सर्प लपेटे, इत्यादि भयङ्कर वेष है। विकट वेष भयदायक होता है। यथा *'बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा॥'* (९६। ४) (ग) *'पुरारि'* कहनेका भाव कि त्रिपुरके वधमें जैसा क्रोध हुआ था, वैसा ही क्रोधित (क्रुद्धमुख) सदा रहता है।

२ (क) *'अपर देउ अस कोउ'*·········' इति। तीन देवताओंका सादृश्य कथन किया, उपमा दी, पर वे भी समता योग्य न ठहरे और जितने भी देवता हैं वे उपमामें दिये जानेके योग्य नहीं हैं। क्योंकि देवता तो मिथिलापुरवासियोंके ही समान सुन्दर नहीं हैं, यथा *'तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भए नखत जनु बिधु उजियारी॥'* तब भला श्रीरामजीकी उपमाके योग्य कब हो सकते हैं? (ख) यहाँतक देवताओंकी सुन्दरता कही, उनमें उपमा ढूँढ़ी न मिली। तब असुर, नाग, नर और मुनिमें उपमा ढूँढ़नी और कहनी चाहिये थी सो न कही। कारण कि जब देवताओंमें कोई इतना सुन्दर नहीं है तब मनुष्यादि किस गिनतीमें हैं। तात्पर्य कि जब त्रिदेव ही समतामें न ठहरे तब अन्य देवताओंकी समता न दी और जब देवताओंकी ही समता न दी तब नर-नाग-असुर-मुनिका नाम ही न लिया। इनका नामतक लेना व्यर्थ समझा। बिलकुल तुच्छ समझ इनको छोड़ ही दिया। [इससे यह भी प्रमाणित होता है कि मनुष्यलोग केवल पाँच जातियोंमें ही शोभाका अनुभव कर सकते हैं। सुर, नर, असुर, नाग और मुनिको छोड़कर उनके मुग्ध होनेयोग्य शोभा कहीं नहीं है। (वि० त्रि०)।]

नोट—भगवान् विष्णुकी सुन्दरता जगत्प्रसिद्ध है; यथा *'अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जसु लीला॥ दूषनरहित सकल गुनरासी।'* (१। ८०) शिवजी भी परम सुन्दर हैं, यथा *'जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल। नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल॥'* (१०६) *'कुंद इंदु दर गौर सरीरा।'* (१०६। ६) **'कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरम्।'** (७ मं० श्लो०) और, ब्रह्माजी सृष्टिके रचयिता हैं, श्रीमन्नारायणके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं, वे क्यों न सुन्दर होंगे? अन्य समस्त देवताओंमें कामदेवसे बढ़कर सुन्दर कोई नहीं, वह श्यामसुन्दर भगवान् कृष्णका पुत्र ही तो है—*'कृष्न तनय होइहि पति तोरा।'* इसीसे इन्हींके नाम दिये।

प० प० प्र०—१ कामदेव तो रजोगुणी है और साधु-संत-योगी-ज्ञानी आदिको शत्रु मानकर सतानेवाला है, अतः तुलना योग्य न ठहरा। विष्णु सत्त्वगुणी हैं और चतुरानन रजोगुणी; इन दोनोंमें अधिकांश दोष

हैं। पुरारिकी तो बात ही दूसरी है। ये तो पुरके अरि हैं और यहाँ तो जनकपुरमें रूपसिंधुके दर्शनसे आनन्दसिंधुकी बाढ़ आ गयी है।

२ *'यह छबि सखि पटतरिअ जाही'* इस चरणमें छन्दोभङ्ग द्वारा जनाया कि युवतीका कंठ गद्गद हो गया, शब्दोंका उच्चार करनेमें गड़बड़ी हुई है। *'यह छबि सखि प'* पर विश्राम है पर *'टतरिअ जाहि'* में *'टतरिअ'* का ठीक उच्चारण करना कठिन है।

दो०—बय किसोर सुषमा सदन स्याम गौर सुखधाम।
अंग अंग पर बारिअहिं कोटि कोटि सत काम॥ २२०॥

शब्दार्थ—**बारना**=निछावर करना, उत्सर्ग वा कुर्बान करना।

अर्थ—किशोर अवस्था, परमा शोभाके घर, एक श्याम एक गोरे, (दोनों) सुखके धाम हैं। इनके अङ्ग-अङ्गपर करोड़ों, अरबों कामदेवोंको निछावर कर देना चाहिये॥ २२०॥

☞ पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि (जब) किशोरावस्था सुखमा (परमशोभा) की सदन है और श्याम गौर वर्ण सुखधाम है (तब अङ्गोंकी शोभा कौन कहे) एक-एक अङ्गपर सौ-सौ करोड़ कामदेव निछावर हैं॥ २२०॥

टिप्पणी—१ (क) *'कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥'* उपक्रम है और *'अंग अंगपर बारिअहिं कोटि-कोटि सतकाम'* उपसंहार है। कामदेवसे ही उपक्रम, उपसंहार करनेमें तात्पर्य यह है कि वह सब देवताओंसे अधिक सुन्दर है। (ख) प्रथम कहा कि कोटि कामकी छबि जीत ली और अन्तमें कहती हैं कि सौ-सौ कोटि काम एक-एक अङ्गपर निछावर हैं, इस तरह उन्होंने अपने प्रथम वचनका खण्डन किया। अर्थात् कोटि कामका जीतना जो कहा वह ठीक नहीं है, कोटि-कोटि शत कामका एक-एक अङ्गपर निछावर करना ठीक है। यथा *'प्राची दिसि ससि उगेउ सुहावा॥'''''''सियमुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक'।* अथवा, (ग) किशोर अवस्था है, सुखमाके सदन हैं, श्याम गौर हैं, सुखके धाम हैं। अर्थात् अवस्थासे शोभित हैं, सुन्दरतासे शोभित हैं, वर्णसे शोभित हैं (इस तरह) सर्वाङ्गकी शोभा इकट्ठा कही, किशोर-अवस्था सर्वाङ्गमें है, शोभासदन सर्वाङ्ग हैं, श्याम-गौर सर्वाङ्ग हैं। पृथक्-पृथक् अङ्गोंकी शोभा नहीं कहते बनती। इसीसे कहती हैं कि *'अंग अंगपर बारिअहिं कोटि कोटि सत काम'।* तात्पर्य कि जिसकी इतनी न्योछावर है उसकी शोभा कौन कह सके।

नोट—१ भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और शिवजी एवं असंख्य कामदेवोंको श्रीराम-लक्ष्मणजीकी शोभाके योग्य उपमा न ठहराना 'चतुर्थ-प्रतीप' अलङ्कार है। (वीर)

नोट—२ *'सुषमा सदन'* अर्थात् द्युति, लावण्य, रमणीयता, मधुरता, सुकुमारता, आदि जो शोभाके अङ्ग हैं उन सबोंके मन्दिर हैं। सुखधाम हैं अर्थात् सुखसे परिपूर्ण भरे हैं, भाव यह कि जिनके दर्शन-मात्रसे नेत्र और मन सुखी हुए उनकी प्राप्ति होनेपर जो सुख होगा, उसे कौन कह सकता है। (वै०)

नोट—३ ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें दोष दिखाये, कामदेवमें उसका अनङ्ग (बिना अङ्गका) होना दोष यहाँ नहीं कहा, जैसे श्रीसीताजीके लिये उपमाओंकी लघुता दिखाते हुए कहा है—*'रति अति दुखित अतनु पति जानी।'* (२४७। ५) इसका कारण यह है कि अशोभित वस्तुको निछावर करनेसे श्रीरामजीकी शोभाकी प्रशंसा ही क्या रह जाती। दूसरे यहाँ तनधारीकी ही उपमा दे रही हैं, जैसा आगे कहती हैं—*'कहहु सखी अस को तनुधारी।'* अतः *'अतन'* का कहना संगत न होता।

४ प्र० सं०—*'सखि इन्ह कामकोटि छबि जीती'* यह यहाँकी छबि वर्णनका उपक्रम है और *'कोटि कोटि सतकाम'* पर उपसंहार है। अर्थात् सखीने कोटि कामके छबिको जीतनेसे उपक्रम उठाया अर्थात् प्रारम्भ किया और *'कोटि कोटि सत'* कामदेवोंकी निछावरकर फेंक देनेमें उपसंहार अर्थात् समाप्ति की।

'जाइ देखि आवहु नगर सुखनिधान दोउ भाइ' इन वचनोंको चरितार्थ किया। यहाँ भी *'स्यामगौर'* दोनों भाइयोंको *'सुखधाम'* कहा है।

कहहु सखी अस को तनु धारी। जो न मोह येह* रूप निहारी॥ १॥
कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी। जो मैं सुना सो सुनहु सयानी॥ २॥

अर्थ—हे सखि! (भला) कहो तो, ऐसा कौन देहधारी है जो यह रूप देखकर मोहित न हो जाय (तात्पर्य कि यह रूप चराचरमात्रको मोह लेनेवाला है, ये चराचरमात्रमें सबसे अधिक सुन्दर हैं) ॥ १॥ कोई (दूसरी सखी) प्रेमसहित कोमल वाणीसे बोली—हे सयानी! जो मैंने सुना है, वह भी सुनो॥ २॥

टिप्पणी—१ *'कंहहु सखी अस को तनुधारी'*······ इति। (क) श्रीरामलक्ष्मणजीकी अत्यन्त शोभाका वर्णन करके उसीको अब और पुष्ट करती हैं कि *'अस को तनुधारी जो न मोह'*······', ऐसा कौन है जो न मोहित हो जाय, इसीसे जाना जाता है कि ये सबसे सुंदर हैं। [इस कथनसे ज्ञात होता है कि इस सखीने इतनी देरमें दोनों भाइयोंकी शोभाको देख पाया। पूर्ण शोभापर दृष्टि पड़ते ही यह भी मोहित हो गयी, फिर और कुछ न कह सकी, यही शब्द कहती रह गयी कि *'अस को'*······'। (प्र० सं०)] *'तनु धारी'* कहकर जनाया कि औरोंकी शोभाको देखकर चेतन ही मोहित होते हैं और इनकी शोभामें तो चर-अचर जड़ और चेतन सभी मोहित हो जाते हैं। यथा—*'करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥'* (२०४। ७), *'हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥'* (३१७। ३), *'खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिए चोरि चित राम बटोही॥'* (२। १२३) इत्यादि। [(ग) *'जो न मोह येह रूप निहारी'* का भाव कि एक काम चराचरको मोहित कर लेता है, यथा—*'सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥'* (२५७। २) और इनकी मोहनी तो ऐसी है कि अङ्ग-अङ्गपर असंख्यों कामदेव निछावर कर दिये जायँ, तब चराचरमात्र क्यों न मोहित हो जायगा। (वै०)]

वि० त्रि०—*'कहहु सखी'*······' इति। भाव कि यदि मैं मोहित हो गयी तो इस रूपके देखनेपर सभी शरीरधारी मोहित हो जावेंगे, अतः आक्षेपार्थ प्रश्न करती है। *'येह रूप'* से अङ्गुल्यानिर्देश करके रूपकी परमोत्कर्षता सूचित करती है। यह सखी अहङ्कार-तत्त्व है।

नोट—१ बैजनाथजी और हरिहरप्रसादजीका मत है कि यह श्रीजानकीजीकी मुख्य अष्टसखियोंका संवाद है। इनमेंसे बड़ी चारुशीलाजी हैं। इनकी माता चन्द्रकान्ती और पिता शत्रुज्ञित हैं। ये अष्ट सखियाँ श्रीमिथिलेशजीके विमातृ आठ भाइयोंकी कन्याएँ हैं। यहाँतक श्रीचारुशीलाजीके वचन हैं। (वै०)। विशेष दोहा २२३ में देखिये।

टिप्पणी—२ *'कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी।'*······' इति [(क) *'सप्रेम'* का भाव कि दोनों भाइयोंको देखकर प्रेम अन्तःकरणमें भर गया है, इसीसे सप्रेम वार्ता कर रही हैं। प्रेममें तो सभी मस्त हैं, मग्न हैं—*'रामरूप अनुरागी'* पूर्व कहा ही गया है। दूसरे *'सप्रेम'*······' से यह भी सूचित करते हैं कि प्रथम सखीकी वाणी सुनकर यह प्रसन्न हुई है]। (ख) सप्रेम बोली, इसीसे वचन मृदु, कोमल और मिष्ट हुआ ही चाहें। [पहली सखी भी प्रेमसे बोली थी, पर उसके बोलनेमें मृदुताकी मात्रा कम थी, अहङ्कारका पुट था। (वि० त्रि०)] (ग) *'जो मैं सुना सो सुनहु'* इति। भाव कि जो तुमने सुना वह तुमने कहा, अब जो मैंने सुना है उसे सुनो। प्रथम सखीने भी सुनी बात कही थी, यथा—*'सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं।'* (घ) प्रथम सखीने सुंदरता वर्णन की और यह सखी दोनों भाइयोंका सब वृत्तान्त (अर्थात् जाति, ऐश्वर्य, चरित, इत्यादि) वर्णन करेगी। (ङ) *'सयानी'* कहकर उसके वचनोंकी प्रशंसा की कि तुम बड़ी चतुर हो, तुमने बहुत अच्छा और ठीक ही कहा। 'सयानी' सम्बोधन देकर उसके वचनोंपर अपनी

* यहु-१७२१, १७६२, को० रा०। येह-१६६१, १७०४। २२२ (१) और दो० २२२, २२३ (३) (६) में भी 'येह' पाठ है। अतः यह लेख प्रमाद नहीं जान पड़ता; सम्भवतः वचनपर जोर देनेके लिये ऐसा प्रयोग हुआ हो।

प्रसन्नता सूचित की। [पुनः भाव कि इसका कथन (सयानोंके) समझने योग्य है। (प्र० सं०) पुनः *'सो सुनहु सयानी'* का भाव कि तुम सयानी हो, जिसके ऊपर इतनी आसक्ति है, उसका परिचय भी जान लेना चाहिये, अतः परिचय मैं सुनाती हूँ। सम्भवतः पतिसे सुना है, इसीसे सुनानेवालेका नाम नहीं लेती। यह सखी 'आकाशतत्त्व' है (वि० त्रि०)]

नोट—२ 'सुनी हुई बातमें कुछ सत्य और कुछ असत्य भी होता है। सत्यका उदाहरण तो सब है ही परंतु असत्यका उदाहरण भी इसमें है—वह है *'मग मुनिबधू उधारि।'* (२२१) मुनिवधूका उद्धार तो श्रीरामजीने किया और दोहेमें *'बंधु दोउ'* कहा है। इसी प्रकार दशरथजी महाराजने कहा है—*'जा दिन ते मुनि गए लवाई। तबतें आजु साँचि सुधि पाई॥'* (२९१। ७) अर्थात् सुध तो पायी थी पर बाजारू; आज सच्ची सुध पायी इसपर कोई महात्मा कहते हैं कि इसमें असत्यका मेल नहीं है। पाठक्रमसे अर्थक्रम बली होता है। अर्थ करते समय *'मग मुनिबधू उधारि'* को केवल श्रीरामजीमें लगाना होगा। जैसे *'सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु। लखनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु॥'* (२। १३) में शाल रामजीकी कुशलसे है पर यहाँ लक्ष्मण; भरत और शत्रुघ्नके कुशलसे भी शाल कहा गया जो ठीक नहीं है। इसी तरह*'मग मुनिबधू उधारि'* केवल श्रीरामजीके संबन्धमें समझना चाहिये। (रा० प्र०)

नोट—३ बैजनाथजीका मत है कि यह लक्ष्मणाजीका वचन है। इनकी माताका नाम विदग्धा और पिताका यशशाली है। जनकपुरके तंबोलिनकी कन्या श्रीअयोध्याजीमें ब्याही थी, उसीसे इसने सुना। पं० रामकुमारजीका मत आगे चौ० ४ टि० २ में तथा दोहा २२३ में देखिये।

ए दोऊ दसरथके ढोटा। बाल मरालन्हि के कल जोटा॥ ३॥
मुनि कौसिक मख के रखवारे। जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे॥ ४॥

शब्दार्थ—**ढोटा**=पुत्र, बेटा। **जोटा**=जोड़ा। **अजिर**=आँगन।

अर्थ—ये दोनों श्रीदशरथजीके पुत्र हैं, बालहंसोंकी (सी) सुंदर जोड़ी है॥ ३॥* ये कौशिक मुनिके यज्ञके रक्षक हैं, जिन्होंने रणाङ्गणमें निशाचरोंको मारा है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'ए दोऊ दसरथ के ढोटा……'* इति। (क) श्रीदशरथमहाराज प्रसिद्ध हैं, इसीसे अवधपति आदि तथा दोनों भाइयोंकी जाति और ऐश्वर्य न कहा। *'दसरथ के ढोटा'* दशरथके पुत्र कहनेसे ही जाति और ऐश्वर्य दोनोंका कथन हो गया कि क्षत्रिय हैं, चक्रवर्ती हैं। (ख) *'बाल मरालन्हि के कल जोटा'* अर्थात् सुंदर हैं। [पुनः, दशरथजीके पुत्र कहकर उत्तम उदार कुल भी जनाया और *'बाल मरालन्हि के कल जोटा'* से गुण बताया कि बाल-कलहंसोंका-सा जोड़ा है अर्थात् लड़कपनसे ही ये धर्मव्रतधारी हैं, असत् त्यागकर सत्पदार्थका ग्रहण करते हैं। (बै०) तथा दशरथजीको हंस जनाया। *'बाल मरालन्हि'* से सम्पूर्ण बालचरित और *'कल'* से सुंदरता कही। (प्र० सं०)। *'बाल मरालन्हि'* और *'कल जोटा'* दोनोंसे सुकुमारता सूचित होती है, यथा—*'बालमराल कि मंदर लेहीं'*। इसीसे आगे कहती हैं कि *'मुनि कौसिक मख……'*]

टिप्पणी—२ *'मुनि कौसिक मख के रखवारे।……'* इति। (क) भाव यह कि ये केवल सुंदर ही नहीं हैं किंतु कौशिक-ऐसे मुनिके यज्ञके रक्षक हैं। अर्थात् महाबली हैं। यथा—'सुकुमारौ महाबलौ……।' तात्पर्य कि देखनेमें तो ये छोटे-छोटे सुंदर और सुकुमार बालक हैं पर इन्होंने बड़े-बड़े काम किये हैं; जैसे ये अतिशय सुंदर हैं वैसे ही अत्यन्त वीर भी हैं। (ख) विश्वामित्रजीने जो राजा जनकसे कहा था कि *'रघुकुल मनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए॥ रामु लखनु दोउ बंधुबर रूप सील बल धाम। मख राखेउ सब साखि जगु जिते असुर संग्राम॥'* (२१६) वही सब बात यह सखी कह रही है। इससे जान पड़ता है कि राजाके सङ्गमें जो मंत्री, भट, भूसुर, गुरु और बंधुवर्ग गये थे उन्हींमेंसे किसीकी यह स्त्री है। अपने पतिसे सुना है। विश्वामित्रजीने यह नहीं कहा कि ये श्रीकौसल्या और

* अर्थान्तर—१ सुंदर बालहंसोंकी जोड़ी है। (पां०)। २ बाल कलहंसोंका जोड़ा है। (बै०)

सुमित्राजीके पुत्र हैं। यह बात उसके पतिकी जानी हुई है उसने अपनी तरफसे यह बात अपनी स्त्रीसे कही। २२१। ८ में देखिये। [(ग) यहाँ विश्वामित्र नाम न कहकर कुल सम्बन्धी 'कौशिक' नाम दिया क्योंकि कुश राजाके वंशमें उत्पन्न होनेसे इन्होंने राजहठवश अनेक दिव्यास्त्रोंको तप करके प्राप्त किया था। इस नामसे मुनिका अस्त्र-शस्त्रबल द्योतित किया। (वि० त्रि०)] (घ) *'रन अजिर निसाचर मारे'* इति। भाव कि जैसे लड़के आँगनमें खेलते हैं, वैसे ही खेल-सरीखे इन्होंने रणमें बड़े-बड़े राक्षस मारे। और, सम्मुख लड़कर मारा। (ङ) यहाँतक दोनों भाइयोंका हाल साथ-साथ एकमें कहा, आगे पृथक्-पृथक् दोनोंका हाल और चरित्र कहती है।

स्याम गात कलकंज बिलोचन। जो मारीच सुभुज मदु मोचन॥ ५॥
कौसल्या सुत सो सुख खानी। नामु रामु धनु सायक पानी॥ ६॥

शब्दार्थ—**सुभुज**=सुबाहु नामक निशाचर।

अर्थ—जिनका श्याम शरीर और सुन्दर कमल समान नेत्र हैं। जो मारीच और सुबाहुके मद (गर्व) के छुड़ानेवाले हैं॥ ५॥ वे सुखकी खान (श्रीरामजी) कौसल्याजीके पुत्र हैं। उनका नाम राम है। धनुष-बाण हाथोंमें लिये हुए हैं॥ ६॥

☞ शृङ्गारमें वीररसका मिलाप कितना सामयिक और सुन्दर है।

टिप्पणी—१ (क) *'स्याम गात कलकंज बिलोचन'* यह शृङ्गार है और *'जो मारीच सुभुज मद मोचन'* यह वीर है। शृङ्गार और वीर कहकर आगे *'सुख खानी'* कहनेका भाव यह है कि उन्होंने शृङ्गारसे मिथिलावासियोंको सुख दिया और मारीच-सुबाहुको मारकर सुर, नर और मुनियोंको सुख दिया। यथा—*'मारि असुर द्विज निर्भय कारी। अस्तुति करहिं देव मुनि झारी॥'* (२१०। ६) (ख) पूर्व कहा कि *'जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे'* अर्थात् दोनोंने निशाचर मारे और अब कहती है कि मारीच, सुबाहुका गर्व श्रीरामजीने दूर किया। इससे पाया गया कि और सब निशाचरोंको लक्ष्मणजीने मारा। यथा *'सुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही॥ बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥ पावक सर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर कटक संघारा॥'* (२१०। ३—५) (ग) *'मदु मोचन'* का भाव कि इनको अपने बलका एवं युद्धका बड़ा अभिमान था सो चूर हो गया। [*'मारा'* न कहा क्योंकि मारीचका वध नहीं किया है। मारीचका गर्व छूट गया, यह उसके वचनोंसे स्पष्ट है जो उसने रावणसे कहे हैं; यथा *'मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं॥ भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥ जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥'* (३। २५)]

टिप्पणी—२ *'कौसल्या सुत सो सुख खानी।'*······' इति। (क) पिछले दो चरणोंमें शृङ्गार और वीर कहकर अब *'सुख खानी'* कहते हैं। श्रीरामजी सब प्रकारसे सुखकी खान हैं। [पुनः, श्रीकौसल्याजी भी सुखखानि हैं, क्योंकि इन्होंने सुखरूप श्रीरामको पैदा किया, यथा *'सुखस्वरूप रघुबंसमनि'*······।', *'कौसल्या सुत सो'*··········'], *'स्याम गात कलकंज बिलोचन'* होनेसे रूपसे सुख देते हैं, *'मारीच सुभुज मदु मोचन'* होनेसे अपनी लीलासे सुखदायक हैं। अपने 'राम' नामसे भी सुख देते हैं, यथा *'सो सुखधाम राम अस नामा।'* (१९७। ६) धनुष-बाण हाथमें लेकर सुख देते हैं, यथा *'करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥'* (२०४। ७) [पुनः *'सुखखानी'* से सदा आनन्दरूप जनाया। (वै०)] (ख) यत्-तत्का सम्बन्ध है। जो प्रथम कह आये—*'स्याम गात कलकंज बिलोचन। जो'*····', उसका सम्बन्ध यहाँ *'सो कौसल्यासुत'*·····' से है।

गौर किसोर बेषु बर काछें। कर सर चाप राम के पाछें॥ ७॥
लछिमनु नामु रामु लघु भ्राता। सुनु सखि तासु सुमित्रा माता॥ ८॥

शब्दार्थ—**काछें**-बनाये, सँवारे, धारण किये हुए; यथा '***जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।***' (२। १२७), '***चौतनी चोलना काछे सखि सोहैं आगे पाछे।***' (गी० १। ७२। १)

अर्थ—(जो) गौर वर्ण, किशोर अवस्था, सुन्दर वेष बनाये हुए, हाथोंमें धनुष बाण लिये हुए, श्रीरामजीके पीछे (हैं)॥ ७॥ (उनका) लक्ष्मण नाम है। ये श्रीरामजीके छोटे भाई हैं, हे सखी! सुनो उनकी माता सुमित्रा हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) दो अर्धालियोंमें श्रीरामजीका वर्णन हुआ। दोहीमें लक्ष्मणजीका वर्णन करती हैं। जैसे श्रीरामजीमें शृङ्गार और वीर (स्वरूप) वर्णन किया वैसे ही लक्ष्मणजीमें दोनों वर्णन करती हैं। '***गौर किसोर बेषु बर काछें। कर सर चाप रामके पाछें॥***' इस प्रथम अर्धालीमें शोभा कही। गौर वर्णसे, किशोर अवस्थासे, सुन्दर वेषसे, धनुष-बाण धारण किये हुए होनेसे और श्रीरामजीके अनुज होनेसे, इस तरह सब प्रकारसे शोभित हैं। दोनों भाइयोंके हाथोंमें धनुष-बाण कहकर जनाया कि दोनों धनुर्विद्यामें प्रवीण हैं, यथा '***कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥***' (६। ४९) जैसे श्रीरामजीको कमलनयन और सुखखानि कहा, वैसे ही लक्ष्मणजीमें ये दोनों बातें समझ लेनी चाहिये और जैसे लक्ष्मणजीको '***किसोर***' और '***बेषु बर काछें***' कहा वैसे ही ये दोनों बातें श्रीरामजीमें भी समझ लेनी चाहिये। ['***रामके पाछें***' से उनके आज्ञाकारी जनाया। (वै०) '***बेषु बर काछें***' का भाव कि श्रीरामजीकी रक्षाके लिये कसे-कसाये तैयार हैं। (वि० त्रि०)] (ख) '***लछिमन नाम राम लघु भ्राता***' इति। '***राम लघु भ्राता***' से पाया जाता है कि कौसल्याजीके पुत्र हैं, इसीसे कहती हैं कि '***तासु सुमित्रा माता***' अर्थात् श्रीरामजीके विमातृ लघु भाई हैं। (ग) ☞विश्वामित्रजीने रानियोंके नाम नहीं कहे और स्त्रियाँ रानियोंके नाम कहती हैं। यह स्वाभाविक है, स्त्रीकी वार्ता स्त्री करती है और स्त्रियोंके संवादमें स्त्रियोंका नाम कहना सोहता भी है, इसीसे सखियोंके संवादमें रानियोंके नाम लिखे।

नोट—माताओंके नाम क्योंकर मालूम हुए, इस सम्बन्धमें पं० रामकुमारजीका उत्तर ऊपर (२२१। ४) में लिखा जा चुका और लोगोंके उत्तर ये हैं—(१) राजा दशरथ चक्रवर्ती महाराज हैं और श्रीकौसल्या, कैकयी और सुमित्राजी इनकी पटरानियाँ हैं। प्रायः इनके नाम विख्यात होते ही हैं। (२) अवधसे जनकपुर कुछ दूर नहीं है, इससे भी नामोंका जानना कठिन नहीं। (३) रसिक महानुभाव कहते हैं कि वशिष्ठा नामकी एक जनकपुरकी तमोलिन श्रीअवधमें ब्याही थी जो इस समय जनकपुरहीमें थी, उसीके ये वचन हैं, वा, उसीसे इन सबोंको मालूम हुआ। विजय दोहावलीमेंसे इसका प्रमाण देते हैं कि '***अवधपुरी ब्याही हुती जनकपुरीको आय। जाति तमोलिन की रही पान देत नित जाय॥***' और कोई-कोई कहते हैं कि अवधपुरीकी कोई स्त्री जनकपुरमें ब्याही थी उससे मालूम हुआ। (यह भी स्मरण रहे कि कौसल्या आदि नाम पिता वा देश सम्बन्धी हैं। प्रायः सभी देशोंके लोग जानते हैं कि राजा दशरथकी तीन विवाहिता रानियाँ हैं। एक कौसलदेशके राजाकी कन्या, एक सुमित्र राजाकी कन्या और एक केकयराजकी कन्या वस्तुतः ये उनके असली नाम नहीं हैं। असली नाम प्रायः मायकेवाले ही जानते और लेते हैं।)

दो०—बिप्र काजु करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि।
आए देखन चाप मख सुनि हरषीं सब नारि॥ २२१॥

अर्थ—दोनों भाई विप्र (विश्वामित्र) का काम करके राहमें (गौतम) मुनिकी स्त्रीका उद्धारकर धनुषयज्ञ देखने आये हैं। यह सुनकर सब स्त्रियाँ हर्षित हुईं॥ २२१॥

☞ यहाँ शान्तरसका पुट केवल उतना है कि सँभाले रहे।

टिप्पणी—विप्रकाज करना वीरता है, मुनिवधूका उद्धार करना 'प्रताप' है। इस तरह '***बिप्रकाजु करि***', '***मुनिबधू उधारि***' से जनाया कि ऐसे वीर प्रतापी धनुषयज्ञ देखने आये हैं। यही सुन-समझकर सब स्त्रियोंको

हर्ष हुआ कि ऐसे वीर और प्रतापी हैं तो अवश्य धनुष तोड़ेंगे। पुनः, *'मुनिबधू उधारि'* यह वचन ऐश्वर्यका द्योतक है। ऐश्वर्यसे विश्वास होता है, विश्वास होनेसे हर्ष होता है; यथा—*'सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥ परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। यह प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥ तासु बचन सुनि सब हरषानी।'* (२२३। ४—६) ☞प्रारम्भमें जो इस सखीने प्रथम सखीको *'सयानी'* विशेषण दिया था,—*'जो मैं सुना सो सुनहु सयानी',* वह सयानपन यहाँ सिद्ध हुआ कि सखीके वचनका अभिप्राय समझकर हर्षित हुई। [शतानन्दजी राज-पुरोहित हैं, उन्हींके माता-पिता अहल्या और गौतम थे। अतः मुनिवधूके शापित होनेकी कथा जनकपुरवासियोंमें विशेषरूपसे ख्यात थी। इसलिये नामसे परिचय न देकर *'मुनिबधू उधारि'* इतना मात्र कहनेसे अहल्योद्धार सबने जान लिया। इससे परम प्रभुता और पावनता कही (वि० त्रि०)]

नोट—हर्ष होनेके कारण और महानुभावोंने ये लिखे हैं—(१—३) हर्ष हुआ क्योंकि ये भी उत्तम कुलके हैं अतः श्रीजानकीजीके योग्य हैं। वा, सुबाहु आदिका वध किया, इससे बलवान् जान पड़ते हैं; अतः धनुष भी अवश्य तोड़ेंगे। अथवा, निशाचरोंका वध तो और भी कर सकते हैं, पर अहल्योद्धार दूसरेसे नहीं हो सकता था; इससे जान पड़ा कि ये अत्यन्त प्रतापी हैं, धनुष अवश्य तोड़ेंगे। (पं०) (४) इन सखियोंने श्रीरघुनाथजीको स्त्रियोंका उपकार जाना; क्योंकि विश्वामित्रजीके यज्ञका नाम ब्रह्मेष्टी है जो स्त्रीलिङ्ग है, उसकी इन्होंने रक्षा की। पुनः, अहल्या स्त्री है, उसका उद्धार किया। इससे विश्वास है कि धनुषकी प्रतिज्ञामें उलझी हुई श्रीजानकीजीका भी उद्धार करनेको ही यहाँ आये हैं। (पाँ०) पुनः, (५) भाव यह कि बली वीर हैं और शक्तिमान् समर्थ हैं, धनुष-यज्ञ देखने आये हैं तो धनुषकी परीक्षा अवश्य करेंगे और उसे तोड़ेंगे भी। इसमें यह व्यंग्य विचारकर हर्षित हुई कि हमारा भी मनोरथ सफल होगा। (वै०) (६) *'बिप्रकाज'* आदि शब्दोंसे परोपकारी जनाया; अतः विश्वास है कि मिथिलापुरवासिनी स्त्रियोंका अवश्य उपकार करेंगे। (रा० प्र०) (७) जड़का उद्धार करना आपका स्वभाव है। अहल्या गौतमके शापसे जड़ पाषाण हो गयी थी, उसका उद्धार इन्होंने किया है। शिवचाप भी विष्णुभगवान्के हुंकारसे जड़ हो गया था तबसे वह जनकजीके यहाँ पड़ा है। ये धनुषयज्ञ देखने आये हैं, अतः निश्चय है कि ये अवश्य पुरुषार्थ करेंगे, उसको तोड़कर उसका उद्धार करेंगे। (धनुष जड़ है। यथा—*'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी।'* (२५८। ७) (रा० प्र०) (८) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि यदि कोई कहे कि सुबाहुको तो बाण-विद्यासे मारा था। और धनुषमें तो हाथका बल चाहिये, उसीपर *'बिप्र काज करि'* कहकर फिर मुनिवधूका उद्धार कह जनाती है कि ये बड़े शक्तिमान् हैं, देखो अहल्याके तारनेमें तो हाथका भी काम न था।

देखि राम छबि कोउ एक कहई। जोगु जानकिहि यह बरु अहई॥ १॥
जौ सखि इन्हहि देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करै बिबाहू॥ २॥
कोउ कह ए भूपति पहिचानें। मुनि समेत सादर सनमाने॥ ३॥
सखि परंतु पनु राउ न तजई। बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई॥ ४॥

शब्दार्थ—**जोगु**=योग्य, (किसीके) उपयुक्त, लायक। **अहई**=है। **पनु**=प्रण, प्रतिज्ञा। **भजई**=भजेगा। भजना=सेवन वा सेवा करना; आश्रय लेना; आश्रित होना। **कोउ एक**=कोई एक; बहुतोंमेंसे ऐसा एक जो अनिर्दिष्ट हो।

अर्थ—श्रीरामजीकी छबि देखकर कोई एक (अन्य स्त्री) कहती है कि यह वर श्रीजानकीजीके योग्य है॥ १॥ हे सखी! यदि राजा इन्हें देख पावें तो हठपूर्वक प्रतिज्ञाको छोड़कर विवाह कर दें॥ २॥ (इसपर) कोई सखी कहती है कि ये राजाके जाने-पहचाने हुए हैं। मुनि-सहित इनका (राजाने) आदरपूर्वक सम्मान किया है॥ ३॥ पर हे सखि! राजा प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते। विधाताके वश ('दैवात्' दैवाधीन) हठपूर्वक अविवेकका ही सेवन करते हैं। अर्थात् अविवेकहीको ग्रहण किये हुए हैं, अविवेकी कहलाना पसंद करते हैं, उनमें कुछ बुद्धिमानी रह ही नहीं गयी॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'देखि राम छबि कोउ एक कहई।……'* इति। [(क) *'कोउ एक'*—बैजनाथजीका मत है कि 'यह तीसरी सखी हेमा है। इसकी माताका नाम सुभद्रा और पिताका नाम अरिमर्दन है।' *'कोउ एक'* मुहावरा है, इससे बहुतोंमेंसे किसी एक अनिर्दिष्ट व्यक्तिको सूचित किया जाता है।] (ख) *'जोगु जानकिहि यह बरु अहई'* इति। छबि देखकर श्रीजानकीजीके योग्य कहनेका तात्पर्य यह है कि छबिमें श्रीजानकीजीके योग्य है, पर धनुष तोड़ने योग्य नहीं है। यह स्त्री मिथिलापुरीकी है, इसीसे यह श्रीरामजीको श्रीजानकीजीके योग्य कहती है। यदि अयोध्यावासिनी होती तो 'श्रीरामजीके योग्य श्रीजानकीजी हैं' ऐसा कहती। नैहरमें कन्याकी प्रधानता रहती है। (ग) *'यह बरु अहई'* इति। दूसरी सखी जो इसके पहले बोली थी उसने दोनों भाइयोंका वर्णन किया था; इसीसे तीसरी सखी अङ्गुल्यानिर्देश करके कहती है कि *'यह बरु'* (इससे यह जान पड़ता है कि दोनों भाई अब सामने आ गये हैं।) पुनः भाव कि [सुन्दर तो दोनों कुमार अवश्य हैं, परन्तु श्रीजानकीजीके वर योग्य यह श्याम राजकुमार ही है (वै०)। रूप देखकर रूप देखनेका फल कहती है। यह तेजस्तत्त्व है। (वि० त्रि०)]

नोट—१ जो बात दूसरी सखीने कही, उसीको यह सखी पुष्ट करती है। *'देखि छबि'* से जनाया कि केवल श्रीरामजानकीके छबिके मेलसे इसने श्रीरामजीको श्रीजानकीजीके योग्य बताया। मिथिलामें सुन्दरतामें सबसे श्रीजानकीजी विशेष हैं, प्रधान हैं, अतएव उनके योग्य कहा। (प्र० सं०) आगे एक सखीने भी इसी भावसे कहा है—*'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥'* (२२३। ७) अर्थात् जैसी सुन्दर श्रीसीताजी हैं वैसे ही सुन्दर श्यामवर्ण श्रीरामजी भी हैं, पुनश्च यथा—*'सीय राम संयोग जानियत रच्यौ बिरंचि बनाइ कै।'* (गी० १। ९०। ६),*'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी औ रामहिं ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री॥'* (गी० १। ७९। ६) गी०१। ८०में योग्यता दिखायी गयी है; यथा *'मिलो बरु सुंदर सुंदरि सीतहि लायकु साँवरो सुभग, शोभाहू को परम सिंगारु। मनहू को मन मोहै' उपमाको को है?'*

नोट—२ वरकी योग्यताके सम्बन्धमें तीन बातें देखी जाती हैं-घर, वर, कुल। वर सुन्दर हो, घर भरा-पूरा धनवान् हो, उत्तम कुल हो, कुल यशस्वी हो। यथा—*'जौ घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ बिबाह सुता अनुरूपा॥'* (७१। ३), *'रूपहि दंपति मातु धन पिता नाम बिख्यात। उत्तम कुल बांधव चहहिं भोजन चहहि बरात॥'* (अज्ञात), *'कन्या सुंदर बर चहै मातु चहैं धनवान। पिता कीर्तियुत स्वजन कुल अपर लोग मिष्ठान॥* (अज्ञात)।—*'जोगु जानकिहि……'* कहकर श्रीरामजीमें सब प्रकारकी योग्यता दिखायी। (प्र० सं०)

नोट—३ *'जौ सखि इन्हहि देख नरनाहू।'* इति। *'जौ सखि इन्हहि देख नरनाहू'* से स्पष्ट है कि इसे नहीं मालूम है कि राजा मुनिके दर्शन करने गये थे और वहाँ इन्हें देख चुके हैं, फिर साथ ही इन्हें लाकर राजमहलमें ठहराया है। बैजनाथजीका मत है कि यहाँ श्रीकिशोरीजीका मन्दिर जानकर श्रीरामजी यहाँ रुके हुए हैं। किशोरीजी तो स्वाभाविक ही देख रही हैं और अष्टसखी उनके निकट ही परस्पर वार्ता कर रही हैं।' (यह मत कहाँतक ठीक है, पाठक स्वयं विचार कर लें।) सत्योपाख्यानके आधारपर उनका मत यह भी है कि जब श्रीरामजी ऋषियोंके साथ भोजन कर रहे थे, उस समय सब स्त्रियों-सहित रानियाँ इनकी माधुरी छबिका दर्शन कर रही थीं। वे इस शङ्काका 'फिर यह सखी यह कैसे कहती है कि *'जो सखि इन्हहि देख नरनाहू?'* समाधान यह करते हैं कि 'जिस समय राजमन्दिरमें राजकुमार भोजन करने-हेतु आये थे उस समय यह वहाँ नहीं थी। अथवा, विभ्रमहाव है, छबि-अवलोकनसे पूर्व सुधकी विस्मृति हो गयी है।'

टिप्पणी—२ (क) दूसरी सखीने कहा था कि *'बिप्र काजु करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि। आए देखन चापमख……॥'* अर्थात् ये बड़े वीर हैं, बड़े प्रतापी हैं, धनुष अवश्य तोड़ेंगे। इसपर तीसरी कहती है कि इन्हें धनुष न तोड़ना पड़ेगा। राजा जैसे ही इनको देखेंगे, इनकी छबिपर मुग्ध होकर अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर इन्हींसे श्रीजानकीजीका विवाह कर देंगे। तात्पर्य कि श्रीरामजीकी अवस्था और सुकुमारता देखकर धनुषके तोड़नेकी प्रतीति हृदयमें नहीं ठहरती, इसीसे प्रणका छोड़ना कहती हैं। (ख) *'नरनाहू'* का भाव

कि राजाओंका अर्थसेवन मुख्य इष्ट है (अर्थात् अपना कार्य-साधन प्रिय होता है), अत: वे प्रण छोड़कर ब्याह कर देंगे। [राजा लोग अपने स्वार्थके लिये धर्मको नहीं मानते और ये राजा हैं। अत: ये प्रतिज्ञा छोड़ देंगे, उसका किंचित् भी विचार न करेंगे। (पां०)।] (ग) *'हठि'* का भाव कि यदि ये कहेंगे भी कि हम धनुषको तोड़ेंगे तो भी राजा इन्हें तोड़ने न देंगे, अपना हठ छोड़कर इनके विवाहका हठ करेंगे, क्योंकि प्रण ही विवाहको रोकता है। ['हठि' देहली-दीपक-न्यायसे 'पन' और 'विवाह' दोनोंके साथ है। अर्थात् हठ करके प्रणको छोड़ देंगे और हठ करके विवाह कर देंगे। अर्थात् प्रतिज्ञामें हठ न करेंगे वरंच विवाहके लिये हठ करेंगे। (प्र० सं०)] *'पन परिहरि'*—भाव कि प्रण छोड़ देंगे, इनको न छोड़ेंगे। जानकीमङ्गलमें राजाओंने भी यही कहा है; यथा—*'पन परिहरि सिय देब जनक बरु स्यामहिं। बर दुलहिनि लगि जनक अपन पन खोइहि॥'* [प्रण और हठमें भेद दिखलाती है। प्रण छोड़ना अनुचित है और अनुचितके पक्षपातको ही हठ कहते हैं। (वि० त्रि०)]।

श्रीलमगोड़ाजी—साधारण स्त्री-जनताका कैसा सुन्दर चित्र है। उन्हें प्रेममें नेम भी 'हठ' जान पड़ता है। उर्दू कविने खूब कहा है—*'मूय आतशदीदा है हलका मेरी जंजीर का'* (नियमकी शृङ्खला आगमें डाले हुए बालकी तरह खाक हो गयी है।) कविका कमाल यह है कि दृष्टिकोण दिखा दिया है किन्तु नैतिक स्वच्छन्दताको प्रयोगमें नहीं आने दिया और विश्वरचयिताके भी नियमपर श्रद्धाद्वारा ही बड़े मजेसे बचाया है, शुष्क उपदेश रूपमें नहीं।

टिप्पणी—३ *'कोउ कह ए भूपति पहिचानें।'''''* इति। (बैजनाथजीके मतानुसार इस सखीका नाम क्षेमा है। इनकी माता 'शोभावती' और पिता रिपुतापन हैं। वि० त्रि० जीका मत है कि यह सखी 'पृथ्वी तत्त्व' है।) (क) यह सखी पूर्वके वचनका खण्डन करती है। जो तीसरी सखीने कहा था कि *'जौं सखि इन्हहि देख नरनाहू',* उसपर कहती है कि *'ए भूपति पहिचाने'* और जो उसने कहा था कि *'पन परिहरि हठि करै बिबाहू'* इसके उत्तरमें आगे कहती है कि *'पनु राउ न तजई। बिधिबस हठि अबिबेकहि भजई॥'* (ख) *'मुनि समेत सादर सनमाने'*— [अर्थात् अर्घ्य पाँवड़े देते हुए राजमहलमें लाकर सुन्दर उत्तम निवासस्थानमें जहाँ सब प्रकारका सुपास है ठहराकर भोजन कराया, फिर सब प्रकार विनय-बड़ाई की। इत्यादि आदर सम्मान है। यथा—*'नाइ सीस पगनि असीस पाइ प्रमुदित पाँवड़े अरघ देत आदर सो आने हैं। असन बसन बास कै सुपास सब बिधि, पूजि प्रिय पाहुने सुभाय सनमाने हैं।'* (गी० १। ६१। २)

टिप्पणी—४ *'सखि परंतु पनु राउ न तजई।'''''* इति। (क) 'परंतु' का भाव कि यद्यपि बर सुन्दर है, वीर है, प्रतापी है और श्रीजानकीजीके योग्य है तब भी।

नोट—४ *'पन राउ न तजई'* का भाव कि राजहठ, बालहठ, त्रियाहठ प्रसिद्ध है, ये तीनों अपना हठ नहीं छोड़ते। प्रतिज्ञाको हठपूर्वक निर्वाह करना राजाओंका भूषण है, प्रतिज्ञा छोड़ देनेसे राजाकी शोभा नहीं रह जाती, उसके पुण्योंका नाश हो जाता है; यथा—*'सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ।'* (२५२। ५), *'एक कहहि भल भूप देहु जनि दूषन। नृप न सोह बिनु बचन नाक बिनु भूषन॥* ४१।' (जानकीमङ्गल), *'अब करि पैंज पंच महँ जो पन त्यागै। बिधिगति जानि न जाइ अजसु जग जागै॥* ४३।' (जानकीमङ्गल)। पुन: भाव कि राजाका प्रण वज्ररेखके समान है, यथा—*'बज्र रेख गजदसन जनकपन बेद बिदित जग जान।'* (गी० १। ८९) अत: वे प्रतिज्ञा न छोड़ेंगे। श्रीजानकी-मङ्गलमें राजाका अपने कठिन पनके कारण चिंतित होना कहा है, उससे भी यही आशय निकलता है। यथा—*'रूप सील बय बंस राम परिपूरन। समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन॥ २१॥ लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनि कै।'*

प० प० प्र०—यहाँ *'नरनाहू', राउ', 'भूपति'* शब्दोंके प्रयोगमें भाव यह है कि वे सत्ताधीश हैं, उनमें दया वा मया कहाँ? वे तो अपनी कीर्तिको ही देखेंगे, सीताजीके सुख-दु:खका विचार वे कब करने लगे? और हमलोग तो प्रजा हैं, उनसे प्रत्यक्ष कह नहीं सकतीं। यहाँ स्त्रियोंके उतावले चंचल स्वभावका दिग्दर्शन कराया गया है।

टिप्पणी—५ *'बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई।'* इति। *'बिधिबस'* कहनेका भाव कि राजा अपनेसे प्रतिज्ञामें हठ न करते, पर विधिके वश वे अज्ञानी हो रहे हैं। राजा बड़े चतुर हैं, पर अज्ञानमें चतुराई नहीं रह जाती, यथा—*'भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी॥'* (२५६। ५)—[यहाँ भी वही भाव है (जो २५६। ५ का है) कि विधाताकी गति न्यारी है, न जाने उसे क्या करना है कि राजाका सयानपन चला गया, वे कुछ विचार नहीं करते। सब प्रकार श्रीसीताजीके योग्य, नेत्रोंका मानो फलस्वरूप और श्रीसीताजीके सुकृतोंका मानो सारस्वरूप ऐसा सुन्दर वर देखकर भी वे अपने पुराने प्रणपर टिके हुए हैं, प्रण और राजकुँवर दोनोंको प्रेमकी तुलापर तौलते तो अवश्य प्रण छोड़ देते, पर ऐसा नहीं करते, यह अविवेक है। यथा—*'नैननिको फल कै धौं सियको सुकृत सारु।'''ऐसिऔ मूरति देखि रह्यो पहिलो बिचारु॥'* (गी० १। ८२) इससे यह भी जनाया कि प्रण छोड़कर विवाह कर देते तो यह विवेककी बात होती। हानि-लाभ न समझना ही अविवेक है।]

नोट—५ ज्ञानी होकर अविवेक क्यों धारण किये हैं? इसका समाधान *'बिधि बस'* से करती हैं। इससे यह भी भाव निकलता है कि ज्ञानीके सत्सङ्गसे अज्ञानीका अज्ञान दूर हो जाता है पर ज्ञानी अपना हठ दूसरेके कहने-समझानेसे भी नहीं छोड़ता। ऐसा ही आगे श्रीजानकीजी कहती हैं, यथा—*'अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥'* (२५८। २) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि यहाँ राजाको विवेकवान् ही ठहराया और पनको अविवेकवान्। (प्र० सं०) ☞यहाँ सखी स्नेहवश राजा वा राजाकी प्रणरक्षाको अविवेकी कह रही है। यथा—*'पुर नर नारि निहारहिं रघुकुलदीपहिं। दोसु नेह बस देहिं बिदेह महीपहिं॥* (जानकीमङ्गल ४१।) [इसका तर्क यह है कि प्रण योग्य वरके लिये ही किया गया था; अतः योग्य वर मिल जानेपर प्रणपर अड़े रहना अनुचित है। यह उचित-अनुचितका विचार अपनी रुचिके अनुसार करती है, तमोबहुल है। अविवेकको विवेक और विवेकको अविवेक समझती है। अतः यह पृथ्वीतत्त्व है। (वि० त्रि०)]

कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता॥ ५॥
तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू। नाहिन आलि इहाँ संदेहू॥ ६॥
जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू॥ ७॥
सखि हमरें आरति अति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नातें॥ ८॥

दो०—नाहिं त हम कहुँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसनु दूरि।
येह संघटु तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि॥ २२२॥

शब्दार्थ—**सँजोग** (संयोग)=संगति, सम्बन्ध, योग, बनाव बनत, जोड़। **कृतकृत्य**=कृतार्थ, सफल मनोरथ, सर्वकामनापूर्ण ☞यह शब्द प्रायः आदर सम्मान-श्रद्धा आदि सूचित करनेके लिये प्रयुक्त होता है। आरति (आर्ति)= बड़ी उत्कट लालसा, आकुलता। यथा *'आरत जननी जानि सब भरत सनेह सुजान।'* (२। १८६) **नाते**=सम्बन्धसे। **पुराकृत**=पुरा (पुराने समयमें, पूर्वकालमें) कृत (किया हुआ)=पूर्व जन्मोंमें किया हुआ। **संघटु**=संयोग। **भूरि**=बहुत, समूह।

अर्थ—कोई कहती हैं कि जो विधाता भले (अच्छे) हैं और सबको उचित फल देनेवाले सुने जाते हैं॥ ५॥ तो श्रीजानकीजीको यही वर मिलेगा। हे सखी! इसमें सन्देह नहीं ही है॥ ६॥ जो दैववशात् ऐसा योग बन जाय तो सब लोग कृतकृत्य हो जायँ॥ ७॥ हे सखी! हमारे हृदयमें इससे बड़ी आतुरता हो रही है कि कभी तो ये इस नाते आवेंगे॥ ८॥ नहीं तो हे सखी! सुनो, हमको इनका दर्शन दुर्लभ है। यह संयोग तो तभी हो सकता है जब पूर्व जन्मोंके समूह पुण्य एकत्र हों॥ २२२॥

टिप्पणी—१ *'कोउ कह जो भल'''* इति। [(क) बैजनाथजीके मतानुसार यह पाँचवी सखी बरारोहा

है। इसकी माँ मोदिनी और पिता महिमंगल हैं।] (ख) *'बिधि बस अबिबेकहि भजई'* यह सुनकर पाँचवींने कहा कि *'जौं भल— ,'*। यहाँ *'बिधि'* का अर्थ 'बिधाता' स्पष्ट कर दिया। 'जो भला है और उचित फलदाता है तो श्रीजानकीजीको यही वर मिलेगा', इस कथनका भाव यह है कि जानकीजीके लिये उचित वर यही है' इससे अच्छा दूसरा योग विधाताको कहीं भी नहीं मिल सकता। [यह सखी ब्रह्मदेवके भले-बुरेकी परख जानकीजीके योग्य वर मिलने, न मिलनेमें कर रही है। इसे विधिका भरोसा है, वे विधि बैठा देंगे तो सबका मनोरथ पूर्ण होगा। इसे शुद्ध प्रेम कहते हैं। स्वयं मोहित है पर विवाह उनका जानकीजीसे चाहती है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) *'नाहिंन आलि इहाँ संदेहू'* इति। 'इहाँ,=इस बातमें। अर्थात् विधाताके उचित फल देनेमें संदेह नहीं है। 'इसमें सन्देह नहीं है' इस कथनका भाव कि जनकजीके प्रण छोड़नेमें अवश्य सन्देह है पर विधाताके विषयमें सन्देह नहीं है। इसीसे आगे कहती हैं *'जौं बिधि बस……'*। [(ख) यहाँ *'आलि'* शब्द बड़ा भावपूर्ण है। 'अलि' भ्रमरीको भी कहते हैं। इस शब्दसे जनाते हैं कि यह भ्रमरीकी तरह छबिरूपी तालाबमें श्रीरामजीके मुखकमलके अनुरागरूपी मकरन्दरसको पान करती हुई परस्पर वचनरूपी गुंजार कर रही है। अथवा, मुखसरोजके छबिरूपी मकरन्दका पान करती है; यथा—*'मुखसरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान।'* (२३१) (ग) मिलान कीजिये—*'कौसिक कथा एक एकनि सों कहत प्रभाउ जनाइ कै। सीय राम-संजोग जानियत रच्यो बिरंचि बनाइ कै।'* (गी० १। ७०), *'मानि प्रतीति कहे मेरे तैं कत संदेह बस करति हियो री। तौलौं है यह संभु सरासन श्रीरघुबर जौ लौं न लियो री। जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी औ रामहि ऐसोरूप दियो री। तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संयोग सियो री।'* (गी० १। ७९)]

टिप्पणी—३ *'जौ बिधिबस अस बनै सँजोगू—'* इति। (क) पूर्व सखीने कहा था कि *'बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई'* और यह सखी कहती है कि *'जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू।'* इस तरह जनाया कि बिगाड़ना और बनाना दोनों विधाताके अधीन हैं। राजा हठपूर्वक अविवेकको भजते हैं यह बिगाड़ना है और श्रीराम-जानकीजीका विवाह होना बनना है। बननेमें सन्देह है इसीसे सन्देहवाचक पद *'जौं'* दिया और बिगड़नेमें सन्देह नहीं, इससे उस सखीके वचनमें *'जौं'* न कहा था। (ख) *'तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू'* इति। *'सब लोगू'*— भाव कि वर पाकर श्रीजानकीजी कृतकृत्य होंगी, (माता' पिता, बन्धुवर्ग, सभी स्त्री-पुरुष (तथा सुर, नर, मुनि सभी) कृतकृत्य होंगे। सबको कहकर आगे स्त्रियोंको पृथक् कहती है। [(ग) *'बिधि बस'* का भाव कि राजा तो प्रण त्यागेंगे नहीं' हाँ, दैवयोगसे जो इनके हाथसे धनुष टूटे, इस तरह विधिवश संयोग हो जाय तो। (वै०)

टिप्पणी—४ *'सखि हमरें आरति अति……'* इति। (क) *'अति आरति'* का भाव कि इनके दर्शनों बिना सभी ही आर्त हैं, पर हम अति आर्त हैं, क्योंकि हमलोग स्त्री हैं, घरसे बाहर नहीं निकल सकतीं। पुरुष तो अयोध्यामें भी जाकर दर्शन कर आ सकते हैं। (ख) *'कबहुँक ए आवहिं एहि नातें'* अर्थात् इनका विवाह यहाँ हो जाय, यह नाता (ससुरालका सम्बन्ध हो जाय और कभी ये इस सम्बन्धसे आवें तब हम इनके दर्शन पा सकती हैं, नहीं तो हमारे लिये इनका दर्शन दुर्लभ है' इसीसे हमें अत्यन्त आर्ति है। [मनोरथकी पूर्ति न होनेसे ब्रह्माको बुरा कहना, विवाह हो जानेसे सबको कृतकृत्य मानना, अति आरत होनेका लक्षण है। दर्शनके लिये आर्त होनेसे यह सखी 'जलतत्त्व' है—*'रहहिं दरस जलधर अभिलाषे'* (वि० त्रि०) (ग) **'आरति'**=मानसी व्यथा (वै०)।=पीड़ा। (रा० प्र०) इस उत्कण्ठासे इस सखीके हृदयमें दर्शनकी लगन जानना चाहिये। (वै०) भाव यह है कि नाता न हुआ तो दर्शन होनेका नहीं। नाता हो जानेपर भी इनकी ही कृपासे दर्शनोंका संयोग हो सकता है, यह आशा है। श्रीजानकीजीके नाते ही हम भी इनको अपने यहाँ बुला सकेंगी। (पं०) (घ) श्रीकरुणासिन्धुजीका मत है कि ये वचन युवावस्थाकी सखीके हैं, इससे 'अति आर्त' हैं और जो मुग्धा हैं, इस रसकी ज्ञाता नहीं, वे केवल आर्त हैं।]

टिप्पणी—५ *'नाहिं त हम कहुँ सुनहु......'* इति। (क) *'हम कहुँ'* अर्थात् मिथिलावासिनी स्त्रीमात्रको। 'नहीं तो दर्शन दूर हैं' का भाव कि इस समय तो धनुर्यज्ञ देखने आ गये हैं, घर लौट जानेपर यहाँ आनेके लिये कोई कारण ही न रह जायगा और हम लोग तो स्त्री होनेसे वहाँ जा नहीं सकतीं। पुनः *'दरसनु दूरि'* अर्थात् इस समय जैसे अत्यन्त निकट हैं, वैसे ही ब्याह न होनेसे अत्यन्त असम्भव हो जायगा। [इससे जनाया कि *'अति आरति'* मानसी व्यथा है, इस व्यथा (पीड़ा या रोग) की ओषधि दर्शन है।] (ख) *'पुन्य पुराकृत भूरि'* इति। भाव कि इस सम्बन्धका होना विधाताके हाथ है। विधाता कर्मफलका देनेवाला है, यथा *'कठिन करम गति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥'*

टिप्पणी—६ (क) ☞ इस सखीने क्रमसे इतनी बातें कहीं—(१) प्रथम श्रीजानकीजीको इस वरकी प्राप्ति कही, यथा—*'तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू।'* (२) प्राप्तिका संयोग बताया, यथा *'जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू।'* (३) उस संयोगको नाता कहा, यथा—*'कबहुँक ए आवहिं एहि नातें।'* (४) उस नातेका संघट (बनाव) कहा कि *'यह संघट तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि'*। (ख) इस संयोगके प्राप्त हो जानेपर पुरवासियोंने अपनेको अत्यन्त सुकृती माना भी है। यथा—*'हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर बासी॥ जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥'* (३१०। ३-४) [(ग) *'पुराकृत भूरि'* का भाव कि सुकृती तो अब भी हैं, सुकृतसे ही इनका दर्शन हुआ है, यथा *'भूरि भाग हम धन्य आलि ए दिन ए खन।'* (गी० १। ७३) *'बड़े भाग आए इत ए री।'* (गी० १। ७६) और यह विवाहका संयोग तो तब होगा जब सुकृत समूह होंगे। इसीसे तो सबने श्रीरामजीके हाथसे धनुष टूटनेके लिये अपने-अपने सुकृतोंको लगाया है। यथा *'सुकृत सँभारि मनाइ पितर सुर सीस ईस पद नाइ कै। रघुबर कर धनु भंग चहत सब अपनो सो हितु चितु लाइ कै॥'* (गी० १। ६८), *'बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे। जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे॥ तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहिं रामु गनेस गोसाईं॥'* (१। २५५) सबका सुकृत मिलकर सुकृतसमूह हो गया और सभी भूरि सुकृती हैं। पुनः, *'पुन्य पुराकृत भूरि'* का भाव कि पुण्यसमूह होनेसे हमें आगे भी इनके दर्शन होते रहेंगे। दर्शन किया, कर रही हैं और आगे भी करेंगी, यह पुण्यपुंजसे ही होता है। यथा *'ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥'* (२। १२०)]

बोली अपर कहेहु सखि नीका। येहि बिआह अति हित सबही का॥ १॥
कोउ कह संकर चाप कठोरा। ए स्यामल मृदु गात किसोरा॥ २॥
सब असमंजस अहइ सयानी। येह सुनि अपर कहै मृदु बानी॥ ३॥

अर्थ—दूसरी और सखी बोली—हे सखी! तुमने बहुत भली (बहुत अच्छी) और ठीक ही बात कही। इस विवाहसे सभीका अत्यन्त हित है॥ १॥ कोई और बोली कि शङ्करजीका धनुष कठोर है (और) ये साँवले (राजकुमार) कोमल शरीर और किशोर (अवस्थाके) हैं॥ २॥ हे सयानी! सब (प्रकार) असमंजस (दुविधा) ही है। यह सुनकर और दूसरी सखी कोमल वाणी बोली॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'बोली अपर'* इति। (बैजनाथजीके मतसे यह पद्मगन्धा नामकी सखी है। इसकी माता 'शोभनांगी' और पिता 'बलाकर' हैं।) (ख) पाँचवीं सखीने जो कहा कि *'जो बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू॥'* उस वचनका समर्थन छठी सखी करती है। *'कहेहु सखि नीका'* यह उसके वचनकी प्रशंसा एवं समर्थन है। अर्थात् तुमने जो कहा वह सत्य है, अवश्य ही इस विवाहसे सभीका हित है। (पुनः *'नीका'* से जनाया कि बात सबके मनको भाती है।) [(ग) *'अति हित'* का भाव कि विवाहसे माता, पिता, परिजन इत्यादिका हित होता है और इस (अर्थात् श्रीराम-जानकीके) विवाहसे तो समस्त मिथिलावासियोंका, समस्त अवधवासियोंका, सुर, मुनि, विप्र, संत और

पृथ्वी इत्यादिका सभीका हित है। इसीसे इसे *'अति हित'* कहा। पुनः, *'अति हित'*, यथा—*'कहहिं परसपर कोकिल बयनी। येहि बिआह बड़ लाभु सुनयनी॥ बड़े भाग बिधि बात बनाई। नयन अतिथि होइहहिं दोउ भाई॥ बारहि बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय। लेन आइहहिं बंधु दोउ कोटि काम कमनीय॥* (३१०)''''''' *तब तब राम लषनहि निहारी। होइहहिं सब पुर लोग सुखारी॥'* अथवा, योग्यता और ऐश्वर्य दोनोंकी समताके कारण *'अति हित'* कहा। [वि० त्रि० के मतसे यह सखी 'वायुतत्त्व' है, क्योंकि यह सबमें *'अति हित'* का संचार करती है।]

टिप्पणी—२ (क) *'कोउ कह'*— (बैजनाथजीके मतसे यह सुलोचना नामकी सखी है जिसकी माताका नाम विलक्षा और पिताका तेजस्थ है।) सातवीं सखीके वचन प्रतिकूल हैं। इसने शंकर-चापकी कठोरता और श्रीरामजीकी सुकुमारता दरसाकर जो हर्ष और सुख पाँचवीं और छठीने उत्पन्न किया था उसको संकुचित कर दिया, सबको असमंजसमें डाल दिया, सबको दुःखी कर दिया, क्योंकि शिवचापकी कठोरता सभी जानती हैं। (ख) *'संकर चाप कठोरा। ए स्यामल'''''* अर्थात् शङ्करजीका धनुष वज्रसे भी अधिक कठोर है और ये अभी नितान्त सुकुमार बालक हैं; यथा—*'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥''''''सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा॥'* (२५८। ४-५) (ये श्रीजानकीजीके वचन हैं); *'ए बालक असि हठ भलि नाहीं। रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥ सो धनु राजकुअँर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं॥'* (२५६। २-४) (ये श्रीसुनयना अम्बाके वचन हैं), *'ए किसोर धनु घोर बहुत बिलखात बिलोकनिहारे। टस्यो न चाप तिन्ह तें जिन्ह सुभटन्हि कौतुक कुधर उखारे॥'* (गी० १। ६८) (ये पुरवासियोंके वचन हैं), *'सोचत बिधिगति समुझि परसपर कहत बचन बिलखाइ कै। कुँवर किसोर कठोर सरासन असमंजस भयो आइ कै॥'* (गी० १। ७०) *'कुलिस कठोर कूर्मपीठि ते कठिन अति।'* (क० १। १०) अर्थात् वज्रसे तथा कछुएकी पीठसे भी अधिक 'कठोर'। [यह सखी संशय करती है, इसकी समझमें तो किसी भाँति सामंजस्य ही नहीं बैठता। अतः यह 'मनस्तत्त्व' है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ (क) *'सब असमंजस अहइ सयानी'* इति। भाव कि यद्यपि सब सयानी हैं तथापि यह वचन सुनकर सब अंदेशेमें पड़ गयीं, श्रीरामजीकी सुकुमारता और अवस्था देखकर धनुष तोड़नेकी प्रतीति किसीको नहीं होती। ☞बड़े-बड़े सयाने माधुर्यमें भूल जाते हैं। ऐश्वर्य सुननेसे सबको प्रतीति होती है, इसीसे अब अगली सखी ऐश्वर्य कहकर सबका सन्देह दूर करती है और सबोंको विश्वास दिलाकर पुनः हर्षित कर देती है। असमंजसमें पड़ गयीं अर्थात् इसका उत्तर न दे सकीं। [मेरी समझमें यह अर्थ नहीं है कि सब असमंजसमें पड़ गयीं। किन्तु अर्थ यह है कि सब प्रकारसे असमंजस है। बैजनाथजीने भी यही भाव लिखा है जो पं० रामकुमारजीने लिखा है।] पुनः, ['सब असमंजस (अर्थात् दुविधा) यह कि जानकीजीके जयमाल पहनानेमें पिताका प्रण रोकता है और पिताके देनेमें उनकी (पिताकी) प्रतिज्ञा रोकती है तथा धनुष तोड़नेमें श्रीरामजीकी कोमलता असमंजस है, टूटे या न टूटे यह सन्देह है।' (पाँ०)] (ख) *'येह सुनि अपर कहै'''''* इति। (बैजनाथजीके मतसे यह 'सुभगा' नामकी सखी है जिसकी माता बिनीता और पिता महावीर्य है। *'मृदु बानी'*— एक तो ये सभी मृदुभाषिणी हैं ही, उसपर भी यह वाणीको कोमल करके बोली। कोमल वाणीका प्रभाव घबड़ाये हुए व्यक्तियोंपर बहुत शीघ्र पड़ता है और पूरा पड़ता है।)

सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥ ४॥
परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ ५॥
सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरें। येहि प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥ ६॥

अर्थ—हे सखी! इनको कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये बड़े प्रभावशाली हैं, देखनेमें ही छोटे हैं॥ ४॥ जिनके चरण-कमलकी धूलिका स्पर्श कर अहल्या तर गयी जिसने समूह पाप किये थे॥ ५॥ भला वह शिवजीके धनुषको बिना तोड़े कब रह सकते हैं? यह विश्वास भूलकर भी न छोड़ो॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'कोउ कोउ अस कहहीं'* इति। भाव यह कि श्रीरामजीके प्रभावके जानकार (ज्ञाता) सब नहीं होते, कोई-कोई ही होते हैं; इसीसे कहती है कि कोई-कोई ऐसा कहते हैं। यथा—'**कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**।'(गीता ७। ३) [अथवा, *'कोउ कोउ'* से जनाया कि जो राजाके साथ मुनिके दर्शनोंको गये थे और जिन्होंने मुनिके वचन सुने थे, वे ही इनके ऐश्वर्यको जानते थे और वे ही ऐसा कहते हैं। यथा—*'मख राखेउ सब साखि जगु जिते असुर संग्राम।'* (२१६) (प्र० सं०)] (ख)*'बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं'* इति। यथा—*'रबिमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु तिभुवन तम भागा॥'* (२५६। ८) आगे प्रभाव कहती है—*'परसि·····'*।

नोट—१ *'परसि जासु पद·····'* इति। (अर्थात् बहुत और घोर पाप किये थे। घोर पापिनी थी। पतिवञ्चकता घोर पाप है, इसीसे *'अघ भूरी'* कहा। यथा—*'पतिबंचक पर पति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥ छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥'* (३। ५) अहल्याने यह जानते हुए कि यह इन्द्र है उसके मनोरथको पूरा किया, और उसके साथ संभोग कर अपनेको कृतार्थ माना। यथा—'**मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्॥ १९॥ अथाब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना। कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो॥ २०॥**' (वाल्मी० १। ४८) अर्थात् विश्वामित्रजी कहते हैं कि 'हे रघुनन्दन! मुनिवेष धारण किये हुए इन्द्रको पहचानकर भी उस दुष्टा अहल्याने प्रसन्नतापूर्वक इन्द्रकी बात स्वीकार कर ली। फिर कृतार्थ मनसे वह इन्द्रसे बोली कि मैं कृतार्थ हुई, अब तुम यहाँसे शीघ्र जाओ।' श्रीविश्वामित्रजीने भी उसे 'दुष्टचारिणी' कहा है; यथा—'**एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम्**॥' (वाल्मी० १। ४८। ३३) अतः *'अघभूरी'* विशेषण दिया। पुनः अयोध्याविन्दुमें लिखा है—*'का तप तेज न रह्यो नारि में इंद्रहि जारत डारी॥ २॥ येहि ते जाना मनकी पापिनि सिला करी मुनि नारी।'* पुनः यथा—*'गौतमकी तीय तारी मेटे अघ भूरि भारी॥'* (क० १। २१)

टिप्पणी—२*'सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरें·····'* इति। (क) जो पूर्व सखीने कहा था कि *'·····संकर चाप कठोरा। ए स्यामल मृदुगात किसोरा॥'* उसीपर यह सखी कहती है कि भला ये धनुष तोड़े बिना कैसे रहेंगे? भाव यह कि पतिवञ्चकतारूपी भारी पापका नाश करना धनुष तोड़नेसे अधिक कठिन काम है। धनुष तोड़ना उसके आगे कुछ भी नहीं है। [पुनः भाव कि जिनके चरण-रजका यह प्रभाव है, भला उनका प्रभाव कोई क्या कह सकता है?*'सिलाछोर छुअत अहल्या भई दिब्य देह, गुन पेखे पारसके पंकरुह पायके·····'*।' (गी० १। ६५) भाव कि जिनके चरणरजके प्रभावसे अहल्याकी जड़ता नष्ट हो गयी, वे धनुषकी जड़ता क्यों न नष्ट कर सकेंगे? धनुषकी जड़ता ही उसकी गुरुता है, यथा *'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होउ हरुअ·····'* (वि० त्रि०।) पुनः भाव कि पतिवञ्चक स्त्रीको तीर्थ भी नहीं तार सकते, सो उसको भी इन्होंने तार दिया; *'जाको तारि सकत नहिं तीरथ गंग देव श्रुति चारी। ताको रामचरनरज समरथ तारै हाँक हँकारी।'* (काष्ठजिह्वस्वामी)] (ख) *'येहि प्रतीति परिहरिअ न भोरें'* इति। भाव यह कि *'बिप्र काज करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि। आए देखन चाप मख·····'* दूसरी सखीके ये वचन सुनकर सबको प्रतीति और हर्ष हुआ था जो पिछली सखीके*'संकर चाप कठोरा। ये स्यामल मृदुगात किसोरा'* इस कथनसे जाता रहा था और सबको धनुषके तोड़नेमें सन्देह हो गया था; इसीपर यह सखी कहती है कि प्रतीति भूलकर भी न त्याग करिये। अर्थात् जैसे तुम लोगोंने एक सखीके इतने ही कथनसे, पूर्व जो विश्वास हो गया था उसे क्षणमात्रमें चलता कर दिया, वैसे ही जो विश्वास मैं दिला रही हूँ उसे भी कहीं न छोड़ देना। इस तरह *'परिहरिअ न भोरें'* कहकर यह सबको सावधान कर रही है। इतना कहकर तब यह पाँचवीं सखीके *'·····जौं भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता॥'* (२२२। ५) इन वचनोंकी पुष्टि करती है।—*'जेहि बिरंचि·····'*

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी॥ ७॥
तासु बचन सुनि सब हरषानीं। ऐसइ होउ कहहिं मृदु बानीं॥ ८॥

अर्थ—जिस विरञ्चि (विधाता) ने श्रीजानकीजीको सँवारकर बनाया है, उसीने विचारकर (उसके लिये) श्यामल वरको भी बनाया है॥ ७॥ उसके वचन सुनकर सब प्रसन्न हुईं और मीठी कोमल वाणीसे सब कहने लगीं कि 'ऐसा ही हो'॥ ८॥

☞ मिलान कीजिये—*'मानि प्रतीति कहे मेरे तैं कत संदेह बस करति हियो री। तौ लौं है यह संभु सरासन श्रीरघुबर जौं लौं न लियो री॥ २॥ जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी औ रामहिं ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री॥'* (गी० १। ७९)—यह सब भाव इस सखीके वचनोंमें हैं। *'रचि सँवारी'* और *'रचेउ बिचारी'* के सम्बन्धसे *'बिरंचि'* नाम दिया। अर्थात् विशेष रचयिता।

टिप्पणी—१ (क). *'जेहि बिरंचि······बिचारी'* इस कथनसे पिछली सखीके *'संकर चाप कठोरा।'* इन वचनोंका खण्डन भी हो गया। (ख) *'तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी'* का भाव कि जिस वस्तुके बनानेमें बड़ी चतुराई और बड़े परिश्रमसे काम लिया जाता है यदि उसके अनुरूप जो-जो और वस्तु आवश्यक है वह न रची जाय तो उस वस्तुके बनानेमें जो चतुराई और परिश्रम किया गया तथा वह वस्तु भी व्यर्थ समझी जाती है। *'जौं पै इन्हहि दीन्ह बनबासू। कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू॥ ए बिचरहिं मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना॥ ए महि परहिं डासि कुस पाता। सुभग सेज कत सृजत बिधाता। तरुबर बास इन्हहि बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रमु कीन्हा॥ जौं ए मुनिपटधर जटिल सुंदर सुठि सुकुमार। बिबिध भाँति भूषन बसन बादि किए करतार॥'* (२। ११९), *'जौं ए कंद मूल फल खाहीं। बादि सुधादि असन जग माहीं॥'* *'बिचारी'* से जनाया कि श्रीसीताजीको बनानेका श्रम व्यर्थ न हो यह विचारकर श्यामल वर पहलेसे ही रच रखा है। [यह सखी निश्चय करती है अत: यह 'बुद्धितत्त्व' है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ *'तासु बचन सुनि······'* इति। भाव कि पूर्व सखीने जो कहा था कि *'सब असमंजस अहइ सयानी'* वह सब असमंजस जाता रहा। सब असमंजसमें थीं, अब सब हर्षित हुईं। स्मरण रहे कि पूर्व भी ऐश्वर्य-कथनसे हर्ष हुआ था और अब भी ऐश्वर्यसूचक वचनोंसे ही हर्ष हुआ।—*'परसि जासु पद पंकज धूरी······'* यह ऐश्वर्यकथन है। पहले भी सब हर्षित हुई थीं और अब भी। उपक्रममें भी सुख कहा; यथा—*'बिप्रकाजु करि···सुनि हरषीं सब नारि।'* (२२१) और उपसंहारमें भी सुख दिखाया—*'सुनि सब हरषानीं।'*, *'अैसइ होउ'* यह सबने कहा, जिसने असमंजसमें डाल दिया था वह भी एवमस्तु कहनेमें सम्मिलित हुई।

'दो बार हर्ष हुआ। दोनोंका मिलान'

(१) *बिप्रकाजु करि बंधु दोउ मग मुनि बधू उधारि। आए देखन चापमख सुनि हरषीं सब नारि॥*	*परसि जासु पदपंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। येह प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥ तासु बचन सुनि सब हरषानी। अैसइ होउ कहहिं मृदु बानी॥*

(२) दोनोंमें ऐश्वर्यकथन है, दोनोंमें 'सब' स्त्रियोंका हर्षित होना कहा गया है। *'सब'* से जना दिया कि जिसने चापकी कठोरता और श्रीरामजीकी सुकुमारताकी ओर ध्यान दिलाकर सबको असमंजसमें डाल दिया था, वह भी प्रसन्न हुई।

(३) पूर्व एक सखीके वचनकी प्रशंसा एकहीने की थी। यथा—*'बोली अपर कहेउ सखि नीका। येहि बिआह अति हित सबही का॥'* और, इस सखीके वचनोंकी प्रशंसा सबने की, यथा—*अैसइ होउ कहहिं मृदुबानी।'* ☞यहाँ मुख्य तात्पर्य विवाहसे है कि श्रीरामजानकीजीका विवाह हो जाय। इसके लिये चारों ओरसे विचार करती रही पर अवलम्ब कहीं न मिला। प्रथम श्रीजनकमहाराजका अवलम्ब लिया गया; यथा—*'जो सखि इन्हहि देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करै बिवाहू॥'* (२२२। २) यह आश्रय दूसरेके वचनसे शिथिल हो गया, यथा—*'सखि परंतु पनु राउ न तजई। बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई॥'* (२२२। ४) तब विधाताका आश्रय लिया गया, यथा *'कोउ कह जौं भल अहइ*

बिधाता।''''जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू॥' (२२२। ६-७)—यह आशा भी शिथिल हुई, यथा *'नाहिं त हम कहँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसन दूरि।'* (२२२) तब भूरि पुण्योंका सहारा दैवयोगके लिये लिया, यथा *'येह संघटु तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि।'* (२२२) यह भी आशा टूटी, क्योंकि कौन जाने पुण्य ऐसे हों या न हों। श्रीरामजीकी मधुर मूर्ति ओर भवचापकी कठोरताने इस अवलम्बको भी छुड़ा दिया। अन्तमें जब प्रभावमें मन गया तब प्रतीति हुई और सबको हर्ष हुआ।

☞ इस संवादसे हमें यह उपदेश मिल रहा है कि श्रीरामजीको छोड़, मनुष्यादिकी क्या कहनी, देवान्तरोंके भी आश्रित होनेसे कभी भी किसी प्रकार सुख नहीं प्राप्त हो सकता। श्रीरामाश्रित होकर उनका प्रभाव मनमें लानेसे ही जीव सम्यक् प्रकारसे सुखी हो सकता है और ऐसा करनेसे ही वह सबसे सराहनीय हो जाता है। श्रीरामजीकी आशा और उन्हींके भरोसेमें सुख है, अन्यके आशा-भरोसामें दुःखमात्र है।

दो०—हिय हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि बृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद॥२२३॥

अर्थ—सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंके झुंड-के-झुंड मनमें हर्षित हो रही हैं और फूल बरसा रही हैं। जहाँ-जहाँ दोनों भाई जाते हैं वहाँ-वहाँ परम आनन्द हो रहा है॥ २२३॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ स्त्रियोंके तन, मन और वचन तीनोंका हाल कहा है। *'हिय हरषहिं'* यह मन, *'बरषहिं सुमन'* यह तन और *'अैसइ होउ'* यह वचनका हाल है। (ख) हर्ष बार-बार हुआ इसीसे कविने भी दो बार लिखा, एक तो *'तासु बचन सुनि सब हरषानी',* दूसरे यहाँ *'हिय हरषहिं'* में। (ग) *'हिय हरषहिं'* का भाव कि प्रभाव सुनकर असमंजसका विवाद मिट गया और हृदयमें हर्ष हुआ। यथा—*'बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिअ न रानी॥ कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजसु सकल संसारा॥ रबिमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु तिभुवन तम भागा॥''''* । २५६ *।''''सखी बचन सुनि भै परतीती। मिटा बिषादु बढ़ी अति प्रीती॥'*— विषाद मिटा, प्रीति हुई, इसीसे खुशीमें फूलोंकी वर्षा करने लगीं।

'हिय हरषहिं बरषहिं सुमन' के और भाव

रा० च० मिश्र—*'हिय हरषहिं'* का भाव कि हृदयके उपजे हुए हर्षको हृदयमें ही दबाती हैं, प्रकट नहीं करतीं; क्योंकि जिस भावनाका हर्ष हो रहा है उसका बाधक अभी जनक महाराजका पन है।

पां०—१ श्रीरघुनाथजीके चरण अत्यन्त कोमल हैं, वे पृथ्वीकी कठोरताको न सह सकेंगे। अतएव फूल बरसाकर मार्गको कोमल बना रही हैं कि इनपर होकर आवें।

२ पुष्पोंकी वृष्टि मंगलकारी होती है। मंगलके समय मंगलके लिये की जाती है। यथा—*'सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन॥'* (३१४। १) नगर-प्रवेश सुफल करनेके लिये पुष्पोंकी वर्षा करके मंगल जना और मना रही हैं। (पां०)

३ श्रीरघुनाथजी शान्तिपूर्वक बालकोंके साथ चले जा रहे हैं, वे ऊपरकी ओर दृष्टि नहीं डाल रहे हैं, उनकी दृष्टिको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये फूल बरसा रही हैं। फूल ऊपरसे गिरेंगे तो ये ऊपरको दृष्टि करेंगे तब हम इनके सुन्दर कटाक्षयुक्त बदनका दर्शन करेंगी, इस विचारसे फूल बरसाये।

४ *'सुमन'* अर्थात् अपने सुष्ठु सुन्दर मनोंको जो रघुनाथजीमें लगे हुए हैं, बरसा रही हैं। फूल भी इनके चरणोंको कठोर लगेगा, फूलोंको कोमल बनाना अपने बसकी बात नहीं है और हमारे मन हमारे वशमें हैं, इनको हम महान् कोमल बना सकती हैं; यह समझकर वे अपने सुन्दर परम कोमल मनोंको बिछा रही हैं कि इनपर इनके चरण पड़ें। (मन लगाना ही उनका बिछाना है)—*'गड़ि न जाय पुष्पन की पाखुरी पायनि में'* (पां०)।

वै०—१ अपने (सु-मन) अच्छे भावुक मनको उनके पास पहुँचाती हैं, निछावर करती हैं।

२ पुष्पोंकी वर्षा क्रिया-चातुरी है। इस प्रकार संकेत कर रही हैं कि कल पुष्पवाटिकामें आइयेगा, वहाँ हम अपनी स्वामिनीजीके साथ मिलेंगी। ये विदग्धा हैं। (वै०)

☞(नोट) यह रीति प्राय: सर्वत्र देखनेमें आती है कि जब कोई बड़े ऐश्वर्यवान् महानुभाव किसी नगरमें जाते हैं तो उस पुरके लोग आदर-सम्मान और अपना हर्ष जनानेके लिये उनका स्वागत फूल बरसाकर करते हैं।

श्रीकरुणासिंधुजी आदि कई महात्मा (जो प्राय: शृङ्गारी हैं), इन स्त्रियोंको श्रीकिशोरीजीकी सखियाँ कहते हैं। श्रीजानकीशरण (नेहलता) जी कहते हैं कि सखियाँ बहुत-सी हैं, उन्हींमेंसे ये भी हैं जो राजमहलके बाहर रहती हैं। बैजनाथजीका मत पूर्व लिखा जा चुका है कि ये आठों सखियाँ मिथिलेशजीके विमातृ आठ भाइयोंकी कन्याएँ हैं जो श्रीकिशोरीजीकी प्रधान सखियोंमें हैं। इनके नाम श्रीचारुशीलाजी, श्रीलक्ष्मणाजी, श्रीहेमाजी,, श्रीक्षेमाजी, श्रीवरारोहाजी, श्रीपद्मगंधाजी, श्रीसुलोचनाजी और श्रीसुभगाजी हैं। और पं० श्रीरामचरण मिश्रजीका मत है कि इन अष्ट सखियोंके नाम क्रमसे ये हैं—श्रीलक्ष्मणाजी, श्रीशुभ्रशीलाजी, श्रीभद्राजी, श्रीमानवतीजी, श्रीलीलाजी, श्रीश्यामाजी, श्रीशान्ताजी और श्रीसुशीलाजी। इनका मत है कि ये सब पुरवासिनी सखियाँ हैं।

दूसरे कहते हैं कि प्रसङ्गमें *'कोउ सप्रेम बोली', 'कोउ एक कहई', 'कोउ कह ए भूपति पहिचानें', 'कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता', 'कोउ कह संकर चाप कठोरा' 'बोली अपर'* और *'येह सुनि अपर कहइ'* इत्यादि *'कोउ'* और *'अपर'* शब्दोंका प्रयोग किया गया है; पहली, दूसरी, तीसरी इत्यादि ऐसा नहीं कहा गया। इससे जान पड़ता है कि ये श्रीकिशोरीजीकी प्रधान सखियाँ नहीं हो सकतीं।

☞ बाबा रामदासजी लिखते हैं कि 'कुछ लोग कहते हैं कि फूल बरसाकर सखियाँ पुष्पवाटिकाका संकेत जनाती हैं और यह कहते हैं कि ये श्रीकिशोरीजीकी सखियाँ हैं।—यह अर्थ पूर्वापर-प्रसङ्गसे अस्पष्ट है (विरुद्ध है, असङ्गत है), क्योंकि राजकुमारीकी सखियाँ कोटमें हैं और ये सब पुरवासिनी हैं। पुन:, कदापि ये ही श्रीकिशोरीजीकी सखियाँ होतीं तो ये सब तो नेत्रोंसे देख रही हैं, पुष्पवाटिकामें भी ये अवश्य कहतीं कि हमने देखा है, परंतु ऐसा कहना कहीं पाया नहीं जाता। वे सुनना ही कहती हैं। यथा—*'एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आए काली॥'* (२२९। ४) फिर *'देखन बाग कुअँर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥ स्याम गौर किमि कहउँ बखानी।……'* इत्यादि वचन भी यही सूचित करते हैं कि साथकी सखियोंने दोनों राजकुमारोंको इसके पूर्व नहीं देखा था। (प्र० सं०)

पं० रामकुमारजी—यहाँ आठ ही सखियोंका संवाद वर्णन किया गया। कारण यह है कि प्रकृति आठ प्रकारकी कही गयी है; यथा—*'आठइ आठ प्रकृति पर निर्विकार श्रीराम।'* (विनय० २०३) **'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥'** (गीता ७। ४) यावत् पदार्थ हैं वे सब इन्हीं आठके भीतर आ जाते हैं। सब सखियोंकी उक्ति आठ प्रकारकी प्रकृतिके भीतर है। इसी भावका पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीने विस्तार किया है। वे लिखते हैं कि अपरा प्रकृतिका मोहित होना ही अष्ट सखियोंका संवाद है। राम ब्रह्मपर आठों प्रकृतियाँ मोहित हैं। अपरा प्रकृति सर्वत्र ही एक-सी है, अत: सर्वत्र ही एक-सी क्रिया हो रही है। यह सरकारके ऊपर पहली पुष्पवर्षा है। एक बार पहले जन्मके उपलक्षमें देवताओंद्वारा हुई थी, पर वह अयोध्यामें हुई थी, सरकारके ऊपर नहीं।

टिप्पणी—२ *'सुमुखि सुलोचनि बृंद'* इति। ये विशेषण श्रीसीतारामजीके सम्बन्धसे दिये गये। ये मुखसे श्रीरामजीके रूप, यश, लीला और प्रताप प्रभावका वर्णन कर रही हैं, अत: इनको सुमुखी कहा और नेत्रोंसे उनका दर्शन कर रही हैं, अत: सुलोचनी कहा। पुन:, ये सब झरोखोंसे देख रही हैं इससे इन सबोंके नेत्र और मुख दो ही देख पड़ते हैं, इससे सुमुखी और सुलोचनी कहा। मिलान कीजिये *'लागि झरोखन्ह झाँकहिं भूपति भामिनि। कहत बचन रद लसहिं दमक जनु दामिनि॥* ४४।' (जानकीमङ्गल)

श्रीलमगोड़ाजी—*'जाहिं जहाँ जहँ……'* इति। श्रीतुलसीदासजीकी कलाकी यह भी एक मुख्य बात है कि एक नमूना देकर पीछे यह कहकर कि इसी प्रकार बहुत-से समझ लिये जायँ, हमारी कल्पनाशक्तिको

असीम विकासका अवसर दे दिया जाता है, वह संकुचित तो रह ही नहीं सकती।—यह ही कविताकी संकेत-कला (Suggestiveness of Poetry) है।

टिप्पणी—३ (क) *'जाहिं जहाँ·····'* इति। एक जगहका आनन्द वर्णन करके कवि कहते हैं कि इसी प्रकार सर्वत्र ही जहाँ ही राजकुमार पहुँचते हैं ऐसा ही परमानन्द होता है; यथा—*'गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरवचंदू॥'* (२। १२२) कहाँतक लिखा जाय। हमने एक जगहका लिख दिया, इतनेसे ही सर्वत्रका समझ लें। (ख) श्रीजनकपुरमें निर्गुण ब्रह्मका आनन्द है। यथा राजा तथा प्रजा। अब निर्गुण और सगुण दोनों ब्रह्म एकत्र हुए हैं। निर्गुण ब्रह्मका सुख दोनों भाइयोंके सुखके पीछे-पीछे फिरता है। इन दोनोंको देखकर उस ब्रह्मानन्दको भी सुख मिला। यथा—*'सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहूके आनँद दाता॥'* (२१७। २) [(ग) 'राजा जनकके हृदयमें जो परमानन्द अर्थात् ब्रह्मानन्द बसा था, वह साकार स्वरूपके हृदयंगत होनेसे निकल गया था। वही परमानन्द राजकुमारोंके पीछे-पीछे फिर रहा है। जब ब्रह्मानन्दकी यह दशा है तब सखियोंकी क्या कहें।' (रा० च० मिश्र) (घ) *'तहँ तहँ परमानंद'* का दूसरा अर्थ यह है कि दोनों भाई अपनेको परमानन्द जानते हैं परंतु यहाँ जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ गली-गलीमें श्रीजानकीजीके प्रभावसे परमानन्द भरा मिलता है। तीसरा अर्थ यह है कि परमहंस परमानन्द जो योगीजनककी पुरीमें बसता था वह श्रीरघुनाथजीके शृङ्गारानन्द (माधुर्यानन्दसे पराजित होकर जहाँ-जहाँ वे जाते हैं) उनके पीछे-पीछे फिरता है। (पाँ०) (ङ) जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ परमानन्दको प्राप्त होते हैं। अर्थात् मिथिलावासिनी स्त्रियोंकी छबि-छटा देख-देखकर निहाल होते हैं। (रा० प्र०)]

प० प० प्र०—यह सब संवाद एक ही भवनमें बैठी हुई स्त्रियोंका समझना भूल है। क्योंकि ऐसा माननेसे यह मानना पड़ेगा कि युगल किशोर इतनी देरतक मर्यादाको छोड़कर एक ही जगह खड़े रहे हैं। दोनों भाई मार्गपर चल रहे हैं, दोनों तरफ पुरजनोंके भवन हैं। जहाँ-जहाँ जैसे-जैसे ये आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे विविध भवनोंके झरोखोंमें लगी हुई युवतियाँ परस्पर इस प्रकार चर्चा कर रही हैं।

पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनुमख हित भूमि बनाई॥ १॥
अति बिस्तार चारु गच ढारी। बिमल बेदिका रुचिर सँवारी॥ २॥
चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥ ३॥
तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंच मंडली बिलासा॥ ४॥
कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई॥ ५॥

शब्दार्थ—**भूमि**=रंगभूमि; वह स्थान जहाँ कोई उत्सव मनाया जावे। **गच**=चूना, सुरखी आदिसे पीटी हुई जमीन, पक्का फर्श। (श० सा०)=चूना, सुरखी आदिके मेलसे बने हुए मसालेसे बनाया हुआ पक्का फर्श; काँचका फर्श। (श० सा०) यथा—*'जातरूप मनि रचित अटारीं। नाना रंग रुचिर गच ढारीं॥'* (७। २७। ३), *'ज्यों गच काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की। टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की॥'* (वि० ९०), *'मनि बहु रंग रचित गच काँचा।'* (७। २७। ६) **ढारी**=बनी हुई; ढली हुई।=ढालुवाँ जिसमें जल न रुके।=ढाली वा बनायी गयी। **गच ढारी**=ढाली हुई गच। **बेदिका**=वेदी, किसी शुभ कार्यके लिये विशेषत: धार्मिक कार्यके लिये तैयार की हुई ऊँची भूमि। **मंच**=मचान, ऊँचा बना हुआ मण्डल जहाँ बैठकर लोग तमाशा आदि अच्छी तरह देख सकें, अथवा, जहाँ बैठकर सर्वसाधारणके सामने कुछ कार्य किया जा सके। **बिलासा**=विशेषरूपसे शोभित।

अर्थ—दोनों भाई नगरकी पूर्व दिशामें गये। जहाँ धनुष-यज्ञके लिये रंगभूमि बनायी गयी थी॥ १॥ बहुत लम्बी-चौड़ी सुन्दर (काँचकी ढालुवाँ) गच बनायी गयी थी जिसपर निर्मल सुन्दर वेदी सजायी गयी थी॥ २॥ चारों ओर सोनेके बड़े मचान बनाये गये थे, जहाँ राजा लोग बैठेंगे॥ ३॥ उनके पीछे निकट ही चारों ओर दूसरा मचानोंका मण्डलाकार घेरा शोभित है॥ ४॥

जो कुछ ऊँचाईपर था और सब प्रकार सुन्दर था, जहाँ नगरके लोग जाकर बैठें॥ ५॥

वि० त्रि०—दोनों भाई मुनिके साथ पश्चिम दिशासे आये थे और रंगभूमि पूर्व दिशामें है अत: उसे देखनेके लिये पुरके पूर्व ओर गये। गच ढालनेकी विद्या पहले थी अब नहीं है। दक्षिणके मन्दिरोंमें ढाले हुए पत्थर लगे पाये जाते हैं।

नोट—१ *'अति बिस्तार चारु गच ढारी''''''* से जनाया कि सुन्दर विस्तृत चौकोर स्थान है। *'चारु'* से जनाया कि मणि-माणिक्य आदिसे बनायी हुई है। *'गच'* से जनाया कि पक्का चिकना चमकता हुआ फर्श है। पाँड़ेजीका मत है कि हरित मणिकी गच है। बड़ी विस्तृत गचके बीचमें वेदिका बनी है जिसपर धनुष रखा जायगा जिसके तोड़नेके लिये स्वयंवर रचा गया। *'बिमल'* से चाँदी वा स्फटिक मणिकी जनायी जो बहुत शुभ्र और स्वच्छ है। *'रुचिर'* से प्रकाशमान जनाया।

नोट—२ *'तेहि पाछे समीप चहुँ पासा।''''''* इति। इससे जनाया कि यहाँ मचान सरोवरकी सीढ़ियोंकी तरह बने हुए हैं। पीछेके मंच आगेके मंचोंसे इतने ऊँचे हैं कि पीछे बैठनेवाले भी धनुष-यज्ञ अच्छी तरहसे देख सकें। या यह समझिये कि जैसे नाटक देखनेवालोंके लिये एक दिशामें बैठकें बनायी जाती हैं वैसे ही यहाँ चारों ओर मंच हैं। यह मंचमण्डली जो बनी है इसपर राजाओंके साथका समाज (अर्थात् मन्त्री, सुभट, चामर-छत्र-बरदार आदि) बैठेगा। यथा—*'राजा रंगभूमि आज बैठे जाइ जाइ कै। आपने आपने थल, आपने आपने समाज, आपनी-आपनी बर बानिक बनाइ कै॥'* (गी०१। ८४)

तिन्ह के निकट बिसाल सुहाए। धवल धाम बहु बरन बनाए॥ ६॥
जहँ बैठे देखहिं सब नारीं। जथाजोगु निज कुल अनुहारीं॥ ७॥
पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥ ८॥
दो०—सब सिसु येहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥ २२४॥

अर्थ—उनके पास बहुत लम्बे-चौड़े विस्तृत सुन्दर स्वच्छ बहुत-से घर रंग-बिरंगके बनाये गये हैं॥ ६॥ जहाँ बैठकर सब स्त्रियाँ अपने-अपने कुलके अनुसार यथायोग्य रीतिसे (अर्थात् जहाँ जिसको जैसा उचित है उस रीतिसे) बैठकर देखें॥ ७॥ जनकपुरके बालक कोमल वचन कहकर आदरपूर्वक प्रभुको उसकी रचना दिखा रहे हैं॥ ८॥ सब बालक प्रेमके वश होकर इस बहाने (श्रीरघुनाथजीके) सुन्दर मनोहर शरीरको छूकर शरीरमें पुलकित होते हैं और दोनों भाइयोंको देख-देखकर उनके हृदयमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है॥ २२४॥

नोट—१ (क) *'धवल'* से जनाया कि स्फटिक मणिके हैं। *'बहु बरन'* से जनाया कि अनेक प्रकारके, अनेक रंगोंके भिन्न-भिन्न रचना-कलाके हैं। *'जथाजोगु'* से वर्ण, जाति, कुल, पद इत्यादिके अनुसार उत्तम, मध्यम, नीच, लघुका विचारकर बैठना जनाया; यथा—*'कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि। उत्तम मध्यम नीचु लघु निज निज थल अनुहारि॥'* (२४०) (ख) धवल धाम चारों वर्णोंकी स्त्रियोंके विचारसे चौमहला बना हुआ है, ऊपर ब्राह्मणी फिर क्रमसे और सब जातिकी स्त्रियाँ। प्रत्येक वर्णके लिये पृथक्-पृथक् रंगसे ये धाम रँगे गये थे। (ग) *'मृदु बचना'* क्योंकि इनको देखकर सब बालक लुभा गये हैं—*'लगे संग लोचन मनु लोभा।'* प्रेमके वचन मृदु होते ही हैं, चाहते हैं कि हमसे बोलें। (घ) *'प्रभुहि'* कहकर जनाया कि यह रचना उनके लिये क्या है तो भी प्रेमके बस इनके कहनेपर वे देखते हैं, उनका मन रखते हैं।

श्रीराजारामशरणजी—गुरुकुल मेगजीन (काँगड़ो) के एक लेखमें मैंने तुलसीदासकी Designing अर्थात् रचनाकलाकी विस्तारसे व्याख्या की थी। देखिये, दरबार या रंगभूमिका यह ढाँचा कितना अच्छा है। सर

जान हिवटने देहली दरबारके लिये सम्राट् जार्जपञ्चमके आगमनके समय इस बीसवीं शताब्दीमें भी कुछ ऐसा ही दरबार बनाया था। हाँ, एक अन्तर है कि हमारी सभ्यतामें परदा न था, मगर स्त्री-पुरुषोंका अनुचित और अनियमित मिश्रण भी न था। स्त्रियोंके लिये बैठनेका स्थान अलग है। अन्तिम पद बालकोंकी वार्ताके संकेतसे दृश्यको सजीव बना दिया गया है, मानो ऊपरका वर्णन उसी वार्ताका सारांश है।

नोट—२ '*सब सिसु येहि मिस प्रेम बस परसि*.......' इति। (क) सब '*परसि मनोहर गात*', '*देखि देखि दोउ भ्रात*' और आगे '*निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥*' (२२५। २) इत्यादिसे स्पष्ट है कि यहाँ कुछ श्रीराम-रहस्य दर्शित कराया गया है। सभी प्रभुका स्पर्श कर रहे हैं, सभी उनको पकड़े हुए हैं, सभी दोनों भाइयोंको अपने ही साथ देख और समझ रहे हैं, सभी रंगभूमिके स्थान दिखाते हैं और अपने साथ ले चलते हैं, सभी मृदु वचन कहकर रचना दिखा रहे हैं। यही रहस्य है, कोई इस भेदको नहीं जानता। जैसे—'*एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद चकोरा॥*' (२। ११५। ५), '*मुनि समूह महँ बैठे सन्मुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर॥*' (३। १२), '*अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं॥ यह कछु नहिं प्रभु कै अधिकाई। बिश्वरूप ब्यापक रघुराई॥ ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई।*' (४। २२), '*आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥ जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥ सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुख दारुन दाहू॥ यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥*' (२। २४४) इत्यादि अवसरोंपर भी देखनेमें आता है। (प्र० सं०) (ख) '*येहि मिस*' इति। भाव कि यद्यपि सब शिशु प्रेमके वश हैं तथापि इनका तेज-प्रताप देख स्पर्श नहीं करते थे, परन्तु दिखानेके बहाने स्पर्श करते हैं। अर्थात् रचना दिखानेके बहाने हाथ पकड़-पकड़कर कहते हैं कि यह देखिये। रंगभूमिकी रचना दिखानेके बहाने अपना अभीष्ट साधन करना 'द्वितीयपर्यायोक्ति अलङ्कार' है। 'शिशु' शब्दसे जनाते हैं कि जैसे माता-पिता बच्चेकी बातोंको सुनते हैं वैसे ही ये सुनते हैं, जैसे बच्चे माता-पिताके हाथ आदि पकड़कर उनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं वैसे ही ये बालक करते हैं इत्यादि। (ग) '*प्रेम बस*' कहनेका भाव कि यह सौभाग्य प्रेमियोंहीका है, वे ही प्रभुका स्पर्श कर सकते हैं, कर्मकाण्डियों, योगियों और ज्ञानियोंको यह अधिकार प्राप्त नहीं है, क्योंकि श्रीरामजीको प्रेम ही प्रिय है; यथा '*रामहि केवल प्रेमु पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥*' (२। १३७। १), '*उमा जोग जप ज्ञान तप नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम॥*' (प्र० सं०) (घ) '*तन पुलकहिं अति हरष हिय*......' इति। प्रभुके अङ्गोंके स्पर्शका यही फल है, हृदयमें आनन्द छा जाता है, शरीर पुलकित हो जाता है इत्यादि। यथा—'*परसत पद पावन सोक नसावन*.....॥ *अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही। अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगलनयन जलधार बही।*' (१। २११) '*हरषि बंधु दोउ हृदय लगाए। पुलक अंग अंबक जल छाए।*' (३०७। ७), '*लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली।*' (१। ३२४), '*अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥*.....*पितरु पार करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार।*' (२। १०१) इत्यादि। (प्र० सं०) (ङ) यहाँ यह भी दिखाते हैं कि बालक मन, वचन, कर्म तीनोंसे प्रभुमें लगे हुए हैं। '*अति हरष हिय*' से मन, *कहि कहि*.....' से वचन और '*परसि मनोहर गात*' से कर्म दिखाया। (प्र० सं०)

राजारामशरणजी—शृङ्गारके माधुर्यमें दर्शन और वार्ता थी, अब स्पर्श है। नवयुवकों और बालकोंकी आदत भी हाथ मिलाकर चलने और बोलने इत्यादिकी होती है। मजा तो देखिये। प्रभुको कविने बालकोंका साथी बना दिया। धन्य हैं ऐसे प्रभु कि प्रेममें बालकोंके साथ हिल-मिल गये।

सिसु सब राम प्रेम बस जानें। प्रीति समेत निकेत बखानें॥ १॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥ २॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सब बालकोंको प्रेमके वश जानकर प्रीतिसहित (उनके दिखाये हुए रंगभूमिके)

स्थानोंकी प्रशंसा की॥ १॥ अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सब दोनों भाइयोंको बुला लेते हैं। दोनों भाई प्रेमसहित जाते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'सिसु सब राम प्रेम बस जानें।'* इति। सब बालकोंके प्रेम है। उनका प्रेम पूर्व कह आये; यथा—*'सब सिसु येहि मिस प्रेमबस ।'* इसीसे कहते हैं कि श्रीरामजीने सबको प्रेमवश जाना। (ख) *'प्रीति समेत निकेत बखानें'* इति। मिथिलावासी बालकोंने रंगभूमिके स्थानोंकी रचना दिखायी, यथा—*'पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥'* सब आदरपूर्वक मृदु वचन कहकर दिखाते हैं इसीसे श्रीरामजी उनके दिखाये हुए स्थानोंकी प्रेमसहित प्रशंसा करते हैं जिसमें बालक प्रसन्न हों। *'बखानें'* अर्थात् कहा कि तुमने बहुत अच्छी रचना दिखायी, स्थान अत्यन्त शोभामय है। [(ग) श्रीरामजी प्रीतिकी रीति जानते हैं, प्रेमीसे प्रेम करते हैं, लड़के प्रेमवश हैं इसीसे श्रीरामजीने *'प्रीति सहित'* बखान किया। *'प्रीति समेत निकेत बखानें'* का सम्बन्ध *'पुर बालक कहि कहि मृदु बचना ....'* इस अर्धालीसे है।]

टिप्पणी—२ *'निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई।......'* इति। (क) अर्थात् रुचिपूर्वक बुलाते हैं, इसीसे वे जाते हैं। यथा *'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी।'* (२। २१९) *'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी।'* (२। २४४। २) (ख) *'सब लेहिं बोलाई'* इति। सब बुला लेते हैं, क्योंकि सभी प्रेमवश हैं। श्रीरामजी सबकी रुचि, सबका प्रेम रखते हैं; इसीसे स्नेहसहित सबके साथ जाते हैं। यहाँ परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया। (ग) सभी स्पर्श करते हैं, सभी बुला लेते हैं और सभीके साथ दोनों भाई जाते हैं—इससे जनाया कि अनेक रूप धारण करके आपने सब बालकोंकी रुचि रखी। [यह दोनों भाइयोंका रहस्य कह रहे हैं। प्रत्येक बालकके साथ दोनों भाई हैं। (प्र० सं०)](घ) *'सहित सनेह'* देहली-दीपक है। सब स्नेहसहित बुलाते हैं (इसीसे दोनों भाई) स्नेहसहित जाते हैं। *'सहित सनेह जाहिं दोउ भाई'* कहकर जनाया कि प्रभुने बालकोंको प्रेमवश जाना। इसीसे आप भी उनके प्रेमवश हो गये। स्नेहसहित साथ जाना, यही प्रेमवश होना है। लड़के प्रेमविभोर हैं, दूसरे अभी बालक ही हैं, इससे वे यह नहीं समझते कि सबके बुलानेसे, सब जगह जानेसे इनको परिश्रम होगा। 'स्नेहसहित जाते हैं' कहकर यह भी जनाया कि दोनों भाई किंचित् भी परिश्रम नहीं मानते, क्योंकि ये स्नेह और शीलके ओर-निबाहक हैं। यथा *'को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा॥'* (२। २४) ☞देखिये, एक ओर आदरसहित रचना दिखाना प्रेमवशता और प्रेमसहित बुलाना है; वैसे ही दूसरी ओर प्रीतिसहित बखान करना, प्रेमवशता और जहाँ-जहाँ बुलाते हैं वहाँ-वहाँ जाना है, इसीसे कहा है कि *'पन्नगारि सुनु प्रेमसम भजन न दूसर आन।'*

टिप्पणी—३ यहाँ दिखाया है कि सब बालकोंने अपने मन-तन-वचन श्रीरामजीमें लगा दिये। मृदु वचन कहकर रचना दिखाते हैं, तनसे पुलकित हो रहे हैं और मनसे हर्षित हैं। इसी तरह श्रीरामजी भी मन-तन-वचन बालकोंमें लगाये हुए हैं। *'प्रीति सहित'*— यह मन (क्योंकि प्रेम होना मनका धर्म है), *'बखानें'*—यह वचन और *'जाहिं दोउ भाई'*— यह तन लगा (जहाँ-जहाँ जो बालक बुला ले जाता है वहाँ-वहाँ तनसे जाते हैं) ☞इससे **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** इस गीतावाक्यको चरितार्थ किया।

राम देखावहिं अनुजहि रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना॥ ३॥
लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥ ४॥
भगति हेतु सोइ दीन दयाला। चितवत चकित धनुष मखसाला॥ ५॥

शब्दार्थ—**रचना**=बनावट, कारीगरी, चमत्कारी। **लव निमेष**—तीन परमाणुका एक त्रसरेणु कहा जाता है, जो झरोखोंमें होकर आयी हुई सूर्यकी किरणोंके प्रकाशमें आकाशमें उड़ता देखा जाता है। ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौगुना काल 'वेध'

कहलाता है। तीन वेधका एक 'लव' तीन लवका एक निमेष और तीन निमेषका एक 'क्षण' होता है। यथा '**अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः। जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्॥ त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः। शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः॥ निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः।**'(भा० ३। ११। ५—७)

अर्थ—कोमल, मीठे और मनोहर वचन कहकर श्रीरामचन्द्रजी भाईको (धनुर्यज्ञभूमिकी) रचना दिखाते हैं॥ ३॥ जिनकी आज्ञासे लवनिमेष-(पलक गिरनेके चौथाई अंश-) में माया ब्रह्माण्डसमूह रच डालती है॥ ४॥ वे ही दीनदयाल भक्तिके कारण धनुष-यज्ञशालाको चकित (आश्चर्ययुक्त) हो देख रहे हैं॥ ५॥

नोट—☞ इस ग्रन्थभरमें पूज्य गोस्वामीजीका यह सँभाल है कि जहाँ माधुर्यकी विशेषता होती है वहाँ उसके पश्चात् तुरंत प्रभुका ऐश्वर्य कहकर संदेह और मोहको दूर कर देते हैं; यथा—'*जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥ सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जगु किय तिहुँ पगहु ते थोरा॥*' (२। १०१) '*प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई*' (लं० ११३) '*गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी॥ कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्हके मन बिरति दृढ़ाई॥*' (३। ३९) '*ब्यालपास बस भए खरारी। स्वबस अनंत एक अबिकारी॥ नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥*' (लं० ७२) इत्यादि, तथा यहाँ कहा कि '*लवनिमेष*''''*जासु त्रास डर कहुँ डर होई।*'''''। ☞ इसीको कलाकी भाषामें महाकाव्य और नाटकीय कलाका मेल कहते हैं। कवि कितना उपयोगी है, शैक्सपियरकी कलामें यह नहीं है, इसी कारण बहुधा भ्रम हो जाता है। '*चितवत चकित*' का आनन्द आपको तब अनुभव होगा जब उस समयका स्मरण करें कि जब आपके बालकने कोई अपनी बनायी चीज दिखायी हो और आपने उसको उत्साहित करनेके लिये उसकी प्रशंसा की हो। आगे '*त्रास*' वाला अंश तो '*जस काछिय तस चाहिय नाचा*' का और भी सुन्दर नमूना है। ☞बहुधा प्रश्न होता है कि क्या यह अभिनय कृत्रिम नहीं? नाटकी अभिनेताओंका उत्तर है कि अभिनयके समय उतनी देरका वही भाव होता है। यदि और भाव याद रहे तो खेल बिगड़ जाय। हम भी जब बालकोंके खेलमें सम्मिलित होते हैं तो अपने और व्यक्तित्वको गुप्त किये बिना मजा ही नहीं आता। (श्रीराजारामशरणजी)।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि दोनों भाई बालकोंके बुलानेसे जाते हैं। वहाँ जाकर क्या करते हैं यह अब बतलाते हैं कि '*देखावहिं अनुजहिं रचना।*' जैसे पुरके बालक रामजीको सादर मृदु वचन कहकर रचना दिखाते हैं, वैसे ही रामजी भाईको मृदु, मधुर, मनोहर वचन कह-कहकर दिखाते हैं। यहाँ यह भी दिखाया कि बालकोंके वचन मृदु हैं और रामजीके वचनोंमें मधुरता और मनोहरता दो बातें अधिक हैं। श्रीरामजी बालकोंकी प्रसन्नताके लिये उनके वचन सुनकर रचना देखते हैं और लक्ष्मणजीकी प्रसन्नताके लिये मधुर-मनोहर वचन कहकर उनको दिखाते हैं। ☞यह भेद दिखाकर प्रभुका स्वभाव बताया कि भक्त जिस तरह प्रसन्न हो भगवान् वही करते हैं, वही कहते हैं, वही सुनते और वही देखते-दिखाते हैं। [सादर होनेसे मृदु, सरस होनेसे मधुर और सुस्वर होनेसे मनोहर कहा। (वि० त्रि०)] (ख) बालक बहुत-से हैं, इसीसे उनके सम्बन्धमें '*कहि कहि मृदु बचना*' लिखा था अर्थात् दो बार 'कहि' शब्द लिखा था और श्रीरामजी दिखानेवाले एक ही हैं, इसलिये यहाँ '*कहि*' एक ही बार लिखा। पुनः बालकोंकी इच्छा श्रीरामजीसे वार्ता करनेकी है, इससे '*कहि कहि*' अर्थात् दो बार '*कहि*' शब्द लिखा और रामजीकी इच्छा रचना दिखानेकी है (वार्ता करनेकी नहीं) अतः यहाँ एक बार '*कहि*' लिखा। (ग) पुनः, '*देखावहिं*' का भाव कि लक्ष्मणजीके हृदयमें नगर देखनेकी इच्छा थी, यथा—'*लषन हृदय लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइय देखी॥*' इसीसे '*राम देखावहिं अनुजहि रचना।*' गुरुसे भी यही कहा था कि '*नगर देखाइ तुरत लै आवौं*', उसको यहाँ चरितार्थ कर रहे हैं। [(घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'बालकोंके संतोषहेतु रचनाकी चमत्कारी दिखाते हैं। आनन्दवृद्धिके अर्थ प्रिय वचन और स्नेहवृद्धि-हेतु मधुर-मनोहर वचन कहे।']

टिप्पणी—२ (क) '*लव निमेष महुँ भुवन निकाया*' इति। कालके दो परिमाण लव और निमेष

कहनेका भाव कि ब्रह्माण्ड बहुत हैं, किसीको लवमात्रमें बना डालती है और किसीको निमेषमात्रमें। तीन लवका एक निमेष होता है—'**निमिषस्त्रिलवो ज्ञेयः।**' [कोई लोग एक निमेषके साठवें भागको लव मानते हैं। कोई छः लवका एक निमेष कहते हैं और कोई ३६ लवका एक निमेष कहते हैं।=दो काष्ठा। (श० सा०) पलक गिरनेमात्रका समय निमिष कहलाता है। *लव निमेष*= अत्यन्त अल्पकालमें। मेरी समझमें आता है कि 'समूह-के-समूह ब्रह्माण्ड' सब-के-सब अत्यन्त अल्पकालमें रच डालती है। वा, लव *निमेष*=लव और निमेषके अन्दर ही। इससे अधिक समय नहीं लगता।] (ख) यहाँ, *भुवन*=ब्रह्माण्ड। यथा—'*सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥*' (५। २१) '*अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नरनारी॥*' (७। ८१) '*ब्रह्माण्ड निकाया निरमित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।*' (१। १९२) '*ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥*' (३। १३। ६) सर्वत्र ब्रह्माण्डका ही रचना कहा गया है; अतः यहाँ भी वही समझना चाहिये। (ग) '*रचइ*' का भाव कि यह न समझो कि अल्पकालमें जैसा-तैसा बना डालती होगी, वह समूह-के-समूह बना डालती है और रचनापूर्वक बनाती है, सामान्य कारीगरी नहीं किन्तु भारी कारीगरीके वे सब ब्रह्माण्ड होते हैं।

वि० त्रि०—विकासवादका सिद्धान्त अत्यन्त संकीर्ण है। सृष्टि क्रमसे नहीं होती, युगवत् होती है, स्वप्नकी सृष्टिकी भाँति। रचनाके लिये काल चाहिये, सो पलक मारनेके पहले ही माया अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड रच डालती है।

टिप्पणी—३ (क) '*भगति हेतु सोइ दीन दयाला*' इति। 'सोइ' अर्थात जिसकी मायासमूह ब्रह्माण्डोंको लवमात्रमें रच डालती है। तात्पर्य कि मायाकी रचनासे यह रचना अधिक नहीं है तब भी उसे चकित हो आश्चर्यपूर्वक देख रहे हैं, मानो ऐसी कारीगरी आजतक कहीं देखी ही नहीं।—इसका हेतु क्या है, सो '*भगतिहेतु*', '*दीनदयाल*' पदोंसे बता दिया है। अर्थात् बालक भक्तिपूर्वक दिखाते हैं और भगवान् भक्तिके वश हो चकित चितवते हैं। ☞प्रभु यहाँ भक्तिकी महिमा दिखा रहे हैं कि भक्तोंके प्रेमके वश हो भगवान् नर-नाट्य अङ्गीकार करते हैं, क्योंकि इससे बालक प्रसन्न होंगे कि हमने बहुत अच्छी-अच्छी रचना दिखायी है। 'दीनदयाल' कहकर जनाया कि बालक दीन हैं, कुछ भी सेवा नहीं कर सकते; '*सादर प्रभुहिं देखावहिं रचना*' इसको प्रभु उनकी सेवा मानकर उनपर प्रसन्न हो रहे हैं।

कौतुक देखि चलें गुरु पाहीं। जानि बिलंबु त्रास मन माहीं॥ ६॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाउ देखावत सोई॥ ७॥
कहि बातें मृदु मधुर सुहाई। किए बिदा बालक बरिआई॥ ८॥

अर्थ—कौतुक देखकर (दोनों भाई) गुरुके पास चले। देर जानकर मनमें डर है॥ ६॥ जिसके डरसे मूर्तिमान् डरको भी डर होता है, वही (भगवान् राम) भजनका प्रभाव दिखा रहे हैं॥ ७॥ कोमल, मीठी और सुन्दर बातें कहकर (श्रीरामजीने) बालकोंको जबरदस्ती बिदा किया॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '*कौतुक देखि चलें*' इति। प्रभुने गुरुजीसे आज्ञा माँगी थी कि '*जौं राउर आयेसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ॥*' (२१८। ६) इसपर गुरुजीने दोनोंको नगर देखनेकी आज्ञा दी—'*जाइ देखि आवहु नगर सुखनिधान दोउ भाइ।*' (२१८) इसीसे श्रीरामजीका भी कौतुक देखना लिखा—'*कौतुक देखि चलें।*' यदि मुनि केवल लक्ष्मणजीको नगर दिखानेकी आज्ञा देते तो ग्रन्थकार श्रीरामजीका कौतुक देखना न लिखते। लक्ष्मणजीको दिखाना ऊपर कहा गया—'*राम देखावहिं अनुजहि रचना।*' और श्रीरामजीका भी देखना यहाँ कहा। ['कौतुक' अर्थात् रङ्गभूमिकी विचित्र रचना। पुनः, 'कौतुक' शब्दसे जनाया कि श्रीजनकमहाराजकी विशिष्ट रचना भी सरकारोंको कौतुकमात्र ही है। अर्थात् तमाशा है। (ख) '*चलें गुरु पाहीं। जानि बिलंबु*......' इति। '*जानि बिलंबु*' देहलीदीपक है। भाव यह कि हम गुरुजीसे कहकर चले थे कि नगर दिखाकर शीघ्र ले आवेंगे सो हमको बहुत देर हो गयी, यह खयाल आते ही तुरत चल

दिये और जल्दी-जल्दी चले।] जबतक कौतुकमें मन लगा रहा तबतक विलम्ब न जान पड़ा, जब कौतुक देखके चले (जब उधरसे मन अलग हुआ तब देर जानकर त्रास हुआ। मन जबतक किसी काममें लगा रहता है तबतक स्वाभाविक ही दूसरी ओर ध्यान न जानेसे समय नहीं जान पड़ता।) (ग) ***'त्रास मन माहीं'*** इति। डर यह कि गुरुजी नाराज (अप्रसन्न) न हों। ☞इस लीलासे भगवान् अपनी भक्तपराधीनता दरसा रहे हैं, स्पष्ट दिखा रहे हैं कि हम भक्तोंके वशमें हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। स्वतन्त्रता दोष है; यथा—***'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई॥'*** (१३७। १) [डर यह है कि गुरुजी यह न पूछ बैठें कि क्यों इतनी देर हुई।—यह माधुर्य है।]

टिप्पणी—२ ***'जासु त्रास डर कहुँ डर होई।'*****'''''** इति। [(क) अर्थात् मूर्तिमान् डर भी प्रभुको डरता है। इस कथनमें अत्युक्ति अलंकार है। पुनः भाव कि सबको कालका डर रहता है, वह काल भी प्रभुको डरता है। यथा—***'ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥''''''ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥'*** (३। १३) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'सेवकके लिये स्वामीमें, प्रजाके लिये राजामें, राजाको देवतामें और देवताओंको शिवादिमें इत्यादि डरके स्थान हैं। ये सब श्रीरामजीका त्रास मानते हैं, इससे प्रभुको सर्वोपरि स्वतन्त्र रूप बताया।'] इस कथनका तात्पर्य यह है कि भला जिसको डर भी डरता है, (तब औरकी बात ही क्या?), उसको डर कैसे सम्भव हो सकता है? 'तब डरते क्या हैं?'—इसका उत्तर उत्तरार्धमें देते हैं कि ***'भजन प्रभाउ देखावत सोई।'*** भजनका प्रभाव दिखानेके लिये डरते हैं। [डरनेका नरनाट्य दिखा रहे हैं। अर्थात् देख लो, भजनका प्रभाव यह है; जो हमारा भजन करता है उसको हम ऐसा डरते हैं। (विश्वामित्रजीने ऐसा भजन किया कि हम उनके शिष्य बने और उन्हें डरते हैं)] (ख) ***'देखावत'*** का भाव कि भजनका प्रभाव वेद-पुराण कहते हैं (यथा—***'तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥'*** (१३। २) और भगवान् श्रीरामजी उस प्रभावको प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं। (देखी हुई बात सुनी हुई बातसे अधिक प्रामाणिक होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण है—***'शुनीदा कै बुवद मानिंद दीदा'*** सुनी हुई बात देखी हुईके समान कब हो सकती है?) देखो, हम मुनिके कैसे वशमें है, यह प्रभाव देखकर हमारा भजन करो, प्रभु यह उपदेश आचरणद्वारा दे रहे हैं।

नोट—***'भजन प्रभाउ देखावत'*** अर्थात् हम उसके अधीन हो जाते हैं, उसके पुत्र, सखा, शिष्य इत्यादि होकर उसको सुख देते हैं। 'भक्तिरसबोधिनी' में भी कहा है—***'वही भगवंत संत प्रीति को बिचार करै धरै दूरि ईशता हू पांडुन सों करी है।'*** (कवित्त ९) भक्तमालमें त्रिलोचन, सेन, धना, माधवदास, जगन्नाथी, रघुनाथ गोसाईं इत्यादिकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। भागवतमें भी भगवान्‌ने दुर्वासाजीसे कहा है—**'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥'**(भा० ९। ४। ६३) अर्थात् मैं भक्तके पराधीन हूँ, जैसे कोई परतन्त्र मनुष्य होता है। भक्तोंने मेरा हृदय हर लिया है, इसीसे भक्तजन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, मैं उनसे डरता रहता हूँ।

टिप्पणी—३ (क) ***'कहि बातैं मृदु मधुर सुहाईं।'*** पूर्व कह आये हैं कि ***'पुरबालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥'*** बालक मृदु वचन कह-कहकर दिखाते हैं, इसीसे श्रीरामजी भी मृदु मधुर सुहाई बातें उनसे कहते हैं। ☞स्मरण रहे कि प्रभुके वचन तो सदा ही ***'मृदु मधुर सुहाए'*** होते हैं, कभी कड़ी बात नहीं सुनी गयी। इस समय बालकोंके प्रेममें आपके वचन प्रेमसने हुए होनेसे और भी सुहावने हैं। (ख) ***'किये बिदा बालक बरिआई'*** इति। अर्थात् बालक प्रेमवश आपसे अलग होना नहीं चाहते थे। ***'बरिआई'***, यथा ***'किये धरम उपदेस घनेरे। लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे॥'*** (२। ८५) [अर्थात् आपने कहा कि देखो माता-पिता राह देखते होंगे, चिन्तित होंगे, इससे अब जाइये, बहुत देर हो गयी, कल फिर मिलेंगे। पुनः मिलनेकी बात मधुर और सुहावनी हुआ ही चाहे। शील स्नेह निबाहनेके हेतु 'मृदु मधुर सुहाई बातें' कही गयीं। यथा—***'को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा॥'*** (२। २४)](ग) ☞भगवान् सब भक्तोंपर समान प्रीति करते हैं। देखिये, जैसे लक्ष्मणजीसे ***'मृदु मधुर मनोहर'***

वचन कहे—'*राम देखावहिं अनुजहि रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना॥*', वैसे ही बालकोंसे '*कहि बातें मृदु मधुर सुहाईं।*......।' [भगवान् सबसे ऐसे ही बोलते हैं, यह बात भी इसीसे प्रकट हो रही है।] (घ) कोटके बाहर निकलते ही बालक संग लग गये थे, '*बालकबृंद देख अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा॥*' (२१९। २) वहाँतक बालक लौटते हुए फिर संग आये, वहींसे सब विदा किये गये। नेत्र और मन दोनों ही शोभाके दर्शनमें लगे हैं; कैसे साथ छोड़ें; इसीसे वे कोटतक साथ पीछे लगे हुए चले आये, अतएव विदा करना कहा गया। यह बालकोंका अतिशय प्रेम दिखाया। [बालक इनका डेरा देखनेके लिये साथ लगे रहे जिसमें वहाँ जा-जाकर फिर दर्शन कर सकें, परन्तु वे राजमहलके भीतर जानेसे रोके जावेंगे तथा मुनिके पास भीड़ होनेसे उनको अरुचिकर होगी, तीसरे अब संध्याका समय है, दोनों भाई अब संध्या करेंगे, इत्यादि कारणोंसे बालकोंको बरिआई विदा किया गया।]

दो०—सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुरु पद पंकज नाइ सिर बैठे आयेसु पाइ॥ २२५॥

अर्थ—अत्यन्त भय, प्रेम, विनम्रता और संकोचके साथ दोनों भाई गुरुके चरणारविन्दोंमें मस्तक नवा आज्ञा पाकर बैठे॥ २२५॥

टिप्पणी—१ '*सभय*' क्योंकि देर हो गयी है, यथा—'*जानि बिलंबु त्रास मन माहीं।*' सप्रेम क्योंकि गुरु हैं, गुरुचरणोंमें प्रेमसे प्रणाम करना चाहिये ही; यथा—'*रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहि न पुलक तनु ते जग जीवत जाय॥*' (दोहावली ४२) 'विनीत' क्योंकि धर्मके रक्षक हैं। प्रणाम करके हाथ जोड़े खड़े रह गये। गुरुने जब आज्ञा दी तब बैठे यह भी 'विनीत' से जनाया 'सकुच' इससे कि एक तो मुनियोंका संग, फिर कथाश्रवण और सत्सङ्गका लाभ छोड़कर नगर देखने गये, दूसरे आपका संकोची स्वभाव ही है; यथा—'*कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची*'; इसीसे संकोच आदि-अन्त दोनोंमें लिखा गया है। २ ☞ गुरुमें श्रीरामजीका भाव एकरस है, यह भी इस प्रसंगमें दिखा दिया गया। उपक्रम और उपसंहारके मिलानसे यह भाव स्पष्ट देख पड़ रहा है—

उपक्रममें	उपसंहारमें
'*परम बिनीत सकुचि मुसुकाई।*	'*सभय सप्रेम*
बोले गुर अनुसासन पाई। २१८। ४।'	*बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।*' (२२५)
यहाँ '*परम बिनीत*' और '*सकुचि*'	१ यहाँ '*बिनीत अति*' और '*सकुच सहित*'
यहाँ '*गुरु अनुसासन पाइ*'	२ यहाँ '*आयसु पाइ*'
यहाँ '*मुनिपद कमल बंदि दोउ भ्राता*'	३ यहाँ '*गुरुपद पंकज नाइ सिर*' '*दोउ भाइ*'
यहाँ आज्ञा पाकर बोले, आज्ञा पाकर चले	४ यहाँ आज्ञा पाकर बैठे—'*बैठे आयसु पाइ*'

यथा '*जाइ देखि आवहु नगर।*......*चले लोक लोचन सुखदाता॥*'

आदिमें '*परम बिनीत सकुचि मुसुकाई*' और अन्तमें 'सभय' कहते हैं। क्योंकि विलम्ब होनेसे यहाँ भय हो गया है। कहा तो था कि '*नगर देखाइ तुरत लै आवौं।*' (२१८। ६) भयमें मुस्कुराहट स्वाभाविक ही लोगोंकी जाती रहती है। वही नरनाट्य यहाँ है। इसीसे उपसंहारमें 'मुसुकाई' नहीं है; उसके बदले 'सभय' है।

प० प० प्र०—यहाँ शिष्य-धर्मका आदर्श चरित्र दिखाया है। परमार्थ-साधक शिष्योंको इससे उपदेश लेना उचित है।

निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा॥ १॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥ २॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**निसि प्रबेस**=सायंकाल, संध्याके समय। **प्रबेस**=पहुँच, आगमन। **संध्याबंदनु**—आर्योंकी एक

विशिष्ट उपासना जो प्रतिदिन प्रात:काल, मध्याह्न और संध्याके समय होती है। इसमें स्नान और आचमन करके कुछ विशिष्ट मन्त्रोंका पाठ, अङ्गन्यास और गायत्रीका जप होता है। दिनका अन्तिम एक दण्ड और रात्रिका पहला दण्ड मिलकर सायं-सन्ध्याकाल होता है। **सयन**=सोनेकी क्रिया। **चापना**=दबाना, मीड़ना।

अर्थ—रात आनेपर मुनिने आज्ञा दी, सभीने सन्ध्यावन्दन किया॥ १॥ पुराणी (पौराणिक) तथा प्राचीन इतिहासकी कथाएँ कहते-कहते दो पहर सुन्दर रात्रि बीत गयी॥ २॥ तब मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने जाकर शयन किया और दोनों भाई चरण दबाने लगे॥ ३॥

☞ नोट—१ आज जनकपुरमें पहली रात है। श्रीरामजीकी आजकी रात्रिचर्य्या विस्तारसे बखानकर सूचित करते हैं कि प्रत्येक रात्रिमें यही चर्य्या होती है। इसी प्रकार एक दिनकी दिनचर्य्या वर्णन करके उससे प्रत्येक दिनकी चर्य्या सूचित करेंगे जिनमें बारंबार न लिखना पड़े। इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजीकी चर्य्या एक-एक जगह कही गयी है। जब उस चर्य्याके प्रतिकूल कहीं होगा तब उसको कह देंगे। अन्यथा नहीं। श्रीजानकीशरण (स्नेहलताजी) कहते हैं कि दिन और रातकी चर्य्याका वर्णन यहाँ इस अभिप्रायसे किया गया है कि आगे पुष्पवाटिका-चरित्रसे ये श्रीमज्जानकीजीके प्रेममें ऐसे विह्वल होंगे कि यह सब चर्य्या भूल जायेंगे। उस दशाको जाननेके लिये रात-दिनकी चर्य्याका वर्णन किया गया है।

प० प० प्र०—नगरदर्शन-प्रसङ्ग २१८ (१) पर शुरू और दोहा २२५ पर समाप्त हुआ। ८ दोहे इस नैमित्तिक कार्यके वर्णनमें हैं। अष्टधा प्रकृतिजनित सर्व दृश्य नैमित्तिक ही हैं, नित्य नहीं हैं।

श्रीराजारामशरणजी (लमगोड़ाजी) कहते हैं कि—*'राम रमापति कर धन लेहू'* पर मानो विश्वनेता पदका चार्जपरिवर्तन होगा। इसके पहले श्रीरामजीके चरित्रका चित्रण मानो उस पूर्णताके विकासका है। हमें उनके निजी जीवनके वास्तविक रूपके देखनेका अवसर मिलता है। इस समय शिक्षा समाप्त करनेके बाद छुट्टीकी चर्य्या है, फिर भी कितनी संयमिता! सच है जिसने अपने ऊपर शासन करना (Self discipline) सीखा है वही अच्छा शासक बन सकेगा। इस दृष्टिकोणसे यदि आप देखें तो हमारे नवयुवकोंके लिये यह अंश बड़ा शिक्षाप्रद है।

टिप्पणी—१ (क) *'निसि प्रबेस'* का भाव कि रात्रिभरकी चर्य्या (आचरण) कहना चाहते हैं, इसीसे रात्रिके प्रारम्भहीसे प्रसंग कहना प्रारम्भ किया। (ख) *'मुनि आयसु दीन्हा'*—गुरुकी आज्ञासे ही पाससे उठ सकते हैं, धर्मकार्यमें गुरुका दृढ़ और कड़ा रहना बहुत आवश्यक है जिसमें शिष्यवर्ग नित्यके धर्मोंसे कभी विचलित न हों, अत: गुरुने आज्ञा दी। इससे मुनिकी सावधानता धर्मकार्यमें दिखायी। (ग) *'सबहीं'* देहली-दीपक है। सबको आज्ञा दी और सबने आज्ञाका पालन किया। सबने सन्ध्यावन्दन किया। सभीको आज्ञा दी जिसमें सभी इस कृत्यसे निवृत्त होकर कथा आकर सुनें। सन्ध्याके बाद ही कथाका समय है—यह बात यहाँ जना दी। *'सबहीं'* अर्थात् दोनों राजकुमारोंको और सब मुनिवृन्दको जो साथमें आये थे, यथा—*'तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए', 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर नियराया', 'रिषय संग रघुबंस मनि करि भोजन बिश्रामु॥'* उत्तम सन्ध्याका समय सूर्यास्तके पूर्व माना गया है—२३७ (६) में नोट, देखिये। सन्ध्या कहाँ बैठकर की यह २३७ (६) में कहना है, इससे यहाँ नहीं लिखा। २३७ (६) टिप्पणी १ देखिये।

नोट—२ श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'पण्डितोंने एक मुहूर्त दिन रहते ही रात बतलायी है, यथा—'**मुहूर्तोनं दिनं नक्तं प्रवदन्ति मनीषिण:।**' इससे यह सिद्ध हुआ कि एक मुहूर्त दिन रहते ही मुनिजीने सबको सन्ध्यावन्दनकी आज्ञा दी। सन्ध्यावन्दनका काल सूर्यास्तसे पहले है। मानसमें भी प्रमाण है, यथा—*'प्रभुहि मिलन आई जनु राती। देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥* ब्रह्म-जीवकी सन्धि सन्ध्या है। गुरुकी सेवा प्रधान है, सब उसीमें लगे हैं, अत: समय आते ही गुरुजीने आज्ञा दी।

प्र० स्वामीका मत है कि नगरदर्शनमें ही सूर्यास्त हो गया इसीसे आज रात्रि हो जानेपर सन्ध्या हुई। आज मध्यम कालमें सन्ध्या हुई। चौपाईके शब्द *'बैठे आयसु पाइ'* और *'सबहीं'* शब्द त्रिपाठीजीके मतको पुष्ट करते हैं।

टिप्पणी—२ *'कहत कथा इतिहास पुरानी।'*..... इति। (क) 'पुरानी कथा इतिहास' कहनेका भाव कि जो कथा कभी सुनी नहीं होती उसमें मन बहुत लगता है, सुनी हुई कथामें मन कम लगता है, इसीसे पुरानी कथाएँ सुनाते हैं। मुनिने ऐसी पुरानी कथाएँ सुनायीं कि उनमें मन ऐसा लगा कि दो पहर रात्रि बीत गयी, कुछ मालूम ही न हुआ। [अथवा, 'पुरानी' से जनाया कि पुराणकी कथाएँ और भारत आदि इतिहासकी कथाएँ। (रा० प्र, पाँ०) 'पुरानी' का दूसरा भाव यह है कि इस समय श्रीरघुनाथजीके चित्तमें मिथिलापुरीका शृङ्गाररस भर गया है और मुनिने जो कथाएँ कहीं वह शान्त रसकी थीं, इससे वह कथाएँ पुरानी लगीं। (पां०) ☞विश्वामित्रजीको प्राचीन इतिहास बहुत मालूम हैं। वे चिरकालीन ऋषि हैं। इससे जहाँ कहीं अवसर आता है, वहाँ वे प्राचीन ही कथा सुनाते हैं, यथा—*'भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥'* (२१०। ८) *'कौसिक कहि कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी॥'* (२। २७७) राजा रघुराजसिंहजी 'सिय-स्वयंवर' में इस समय राजा निमि और महर्षि वसिष्ठजीकी कथाका कहना कहते हैं। प्र० स्वामी लिखते हैं कि भक्तिविषयक कथा ही कही। 'कथा कहना' भक्तिके साथ ही मानसमें मुख्यत: प्रयुक्त है—दोहा ४४ में देखिये)।] (ख) *'रुचिर रजनि'* इति। जो समय भगवत्-कथाके कहने-सुननेमें व्यतीत होता है वही सुन्दर है इसीसे दोपहर रात्रिको 'रुचिर' विशेषण दिया। [पुन:, 'रुचिर' विशेषण देकर सत्संगका महत्त्व दिखाया, यथा—*'धन्य घरी सोइ जब सतसंगा॥'* (६। १२७) अथवा, आज आश्विन शुक्ला द्वादशी है, चाँदनी छिटकी हुई है, अत: 'रुचिर' कहा। यह शान्तरसका अर्थ है। और शृङ्गाररसका अर्थ यह है कि पुष्पोंकी वर्षाद्वारा सखियोंने सबेरे फुलवारीमें आनेका संकेत किया है। श्रीकिशोरीजीसे मिलनेकी रुचिमें रात्रि एक युगके समान बीत रही थी सो कथामें पहर-भर (पहरके समान) बीत गयी।' (वै०) प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि आज सबेरेसे शामतक कथाके लिये अवसर ही नहीं मिला और आज आश्विन शुक्ला चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमाकी रात्रि है, इसीसे उसे 'रुचिर रजनी' कहा। आगे चन्द्रोदय-वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि आज रात्रिके समय पूर्ण चन्द्रोदय है। यह कोजागरी पूर्णिमा है, इसीसे मध्य रात्रितक कथा हुई। कोजागरीकी रात्रिमें गृहस्थोंको लक्ष्मीपूजन और क्षत्रियोंको अक्ष (द्यूत) क्रीड़ा करना शास्त्रमें कहा है। मध्यरात्रिके समय ही यह विहित है। पर यहाँ बताया है कि परमार्थविन्दक साधु सन्त साधकोंके लिये तो उस समय हरिकथा कथन-श्रवण करना ही उचित है। अथवा, श्रीअवधपुरी छोड़नेके पश्चात् आज मिथिला नगरमें प्रथम-प्रथम आये, इससे आजकी रात्रि रुचिर जान पड़ी। अवधसे निकलनेपर बक्सर आदिके वनमें ही समय बीता, मारीच आदि निशाचरोंके कारण रातें चिन्तामें बीतती रहीं। (रा० प्र०) इससे वनकी रात्रियाँ भयानक रहीं, आज नगरकी रात्रि होनेसे 'रुचिर' है। (रा० च० मिश्र) अथवा, नगरके बालकोंसे सुन आये थे कि राजकुमारी प्रात:काल गौरीपूजनके लिये जाया करती हैं। उनको देखनेकी अभिलाषामें शेष दो पहर रात्रि बहुत कठिन हो जायगी। उसकी अपेक्षामें कहते हैं कि यह दो पहर रात्रि कथा सुननेमें सुन्दर बीती। (पाँ०, पं० रा० च० मिश्र) ☞परंतु हमें पं० रामकुमारजीका भाव विशेष संगत जान पड़ता है। दोहा २३० में लमगोड़ाजीका नोट भी देखिये।] (ग) *'जुग जाम सिरानी'* से कथाकी समाप्ति दिखायी और कितनी देर रात्रिमें कथा होती है यह बताया। अर्थात् इससे जनाया कि दो पहर रात्रितक कथाका समय है। इसके पश्चात् शयनका समय है। पुन: 'सिरानी' कहकर जनाया कि कथा कहते-सुनते दो पहर समय कुछ जान ही न पड़ा, बड़ी जल्दी बीत गया, यथा—*'राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहि पलक सम बीती॥'* (२। २९०) (इससे सूचित किया कि सब श्रोता बड़े प्रेमसे कथा सुनते रहे। ☞कथामें इस तरह मन लगावे।)

टिप्पणी—३ *'मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई'*..... इति। (क) 'तब' अर्थात् कथा समाप्त होनेपर। *'जाई'* से जनाया कि कथा-स्थानसे शयनागार कुछ दूरीपर अथवा पृथक् है। इससे यह भी जना दिया कि और सब श्रोता मुनि भी अपने-अपने आसनपर गये। जब मुनिवर जाकर सोये तब सब मुनि भी जाकर सोये। जबतक मुनिवर शयन न करें तबतक कोई भी शयन नहीं कर सकता।—यह रीति और बड़ेका आदर-सम्मान दिखाया। किसीका मत है कि 'सुंदर सदन' में जाकर सोये। उनके मतके अनुसार *'सुंदर सदनु सुखद सब काला। तहाँ बासु लै दीन्ह भुआला॥'* (२१७। ७) में जो 'सुंदर सदन' कहा

है वह उस सदनका नाम ही है)। (ख) *'लगे चरन चापन दोउ भाई।'* इति। ☞सब काम गुरुकी आज्ञासे करना कहते आये; यथा—*'बोले गुरु अनुसासन पाई।' 'जौं राउर आयसु मैं पावउँ।'* (२१८। ४—६) *'गुरुपदपंकज नाइ सिर बैठे आयेसु पाइ।'* (२२५) तथा आगे भी *'समय जानि गुर आयेसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥'* (२२७। २) पर यहाँ गुरुचरण दबानेमें गुरुकी आज्ञा नहीं लिखी गयी। यह भी साभिप्राय है। यहाँ उत्तम सेवकका धर्म कहते हैं। चरणसेवा दोनों भाइयोंने अपनी ओरसे की और बार-बार शयनकी आज्ञा दिये जानेपर ही सेवा बंद की, जैसा कवि आगे स्वयं कहते हैं—*'बार बार मुनि आज्ञा दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥'*, यह उत्तम सेवककी रीति है। यथा—**'उत्तमश्चरितं कार्यं प्रोक्तकारी च मध्यमः।'** अर्थात् बिना कहे हुए स्वामीके चित्तमें आया हुआ कार्य करनेवाला उत्तम और कहनेपर करनेवाला मध्यम श्रेणीका सेवक है। (ऐसा ही पुत्रके विषयमें भी कहा गया है, यथा—**'अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः॥ उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः। उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते॥'** (अ० रा० २। ३। ६०-६१) अर्थात् जो बिना आज्ञाके ही पिताका कार्य करे वह उत्तम है, जो कहनेपर करे वह मध्यम और जो कहनेपर भी न करे वह मलतुल्य है।—और जो कार्य स्वामीके मनमें आया भी नहीं है पर सेवकके लिये उचित है, उसको करनेवालेके विषयमें क्या कहा जाय?) पुनः भाव कि मुनिने सब काम करनेकी आज्ञा दी पर चरणसेवाकी आज्ञा न दी। क्योंकि वे जानते हैं कि ये हमारे नाथ हैं, यथा—*'तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्ही। बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥'* (२०९। ७) हाँ, साथ ही माधुर्यके अनुकूल दोनोंको सेवा करनेसे मना भी नहीं किया। [स्मरण रहे कि ईश्वरसे चरणसेवा करानेमें वात्सल्यभाव ही मुख्य कारण है। वात्सल्यभाववाले ऐश्वर्य नहीं देखते, वे तो माधुर्यमें बालकभाव ही मानते हैं। इससे सेवा करानेमें दोष नहीं। (वै०)]

नोट—३ अन्य काम करनेके लिये गुरुकी आज्ञा अवश्य लेनी चाहिये; परंतु सेवामें आज्ञाकी आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि चरणसेवा करनेकी आज्ञाका माँगना या देना यहाँ नहीं पाया जाता। कहा गया है कि तीन जगह गुरुकी आज्ञा मानना उचित नहीं है। अर्थात् सेवा, भोजन और दानमें आज्ञा न माननी चाहिये। (पाँ०) यथा—*'सेवा भोजन दानमें आज्ञा भंग न दोष। पुनि पुनि गुरुजन रोकहीं तऊ न कीजिय तोष॥'* यही कारण है कि चरण चाँपनेकी आज्ञा नहीं ली गयी; चाँपने लग गये। सेवा, दान और भोजनके अतिरिक्त शयन करनेमें, दण्ड-प्रणाम करते समय उठनेमें, संग पहुँचाने जाते हुए लौटनेमें अनेक बार आज्ञा होना भूषण है। यथा—*'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।'* (लक्ष्मणजीसे बार-बार सोनेको कहते हैं), *'परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥'* (७। ५) (भरतजी साष्टाङ्ग पड़े हैं, उठानेसे उठते नहीं), *'बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं। जनकु प्रेमबस फिरै न चहहीं॥ पुनि कह भूपति बचन सुहाए। फिरिअ महीस दूरि बड़ि आए॥'* (३४०। ४-५) इत्यादि। स्वामीके कहनेपर सेवा करना उत्तम सेवककी रीति नहीं है। (ग) चरणसेवा करना आज ही लिखा, सो क्यों? उत्तर—मुनिका साथ छोड़ नगरमें जाकर विलम्ब करने और कथामें चित्त न देनेका अपराध क्षमा करानेके लिये चरण-सेवा करने लगे। (पाँ०) अथवा, किसी भाँति रात्रि बीते इससे। वा, 'नगरदर्शन असत् कर्म है उसके उद्धारहेतु सत्कर्म करते हैं।' (वै०) वा, रास्ता चलकर आये हैं अतः थकावट निवारणार्थ प्रभु गुरुके चरण दबाने लगे। (वि० त्रि०) ☞वस्तुतः यहाँ आज रात्रिचर्याका वर्णन हो रहा है, यह भी एक रात्रिचर्या है, इससे इसे भी लिखा। ऐसा ही नित्य करते हैं।

नोट—४ मानसमें सिद्धाश्रमसे जनकपुरको प्रस्थान करनेपर बीचमें रात्रिमें कहीं विश्राम करनेका उल्लेख नहीं है। अ० रा० में अहल्योद्धारके दूसरे दिन प्रातः जनकपुर पहुँचना कहा और वाल्मी० में प्रथम दिन शोणनदके तटपर, दूसरे दिन गङ्गा-तटपर, तीसरे दिन विशाला नगरीके राजाके यहाँ रातमें ठहरनेके पश्चात् चौथे दिन प्रातः अहल्यावाले वनमें पहुँचे जो मिथिलापुरीका ही उपवन है। अहल्योद्धार करके उसी दिन जनकपुर पहुँचे। अस्तु।—इससे सिद्ध हुआ कि कुछ कोस चलकर तब जनकपुर मध्याह्नकालके लगभग पहुँचे। अमराईमें ठहरकर तुरत ही दोनों राजकुमार फुलवारी देखने गये, जहाँसे गुरुजीके लिये पुष्प आदि

लाना होगा। महाराज जनक इसी बीचमें आये। दोनों राजकुमार फुलवारी देखकर आये, तब राजा ससमाज वहाँ उपस्थित ही थे। फिर महाराज सबको महलोंमें लाये, सुन्दर सदनमें निवास दिया। यहाँ भोजन-विश्राम करनेपर केवल एक पहर दिन रह गया तब नगरदर्शनको गये। वहाँसे 'निसिप्रवेश' पर लौटे, सन्ध्यावन्दन किया। दिनभरके थके होनेपर भी अर्द्धरात्रितक प्रेमसे कथा सुनी। रात्रिमें भोजन भी नहीं। इतनेपर भी जाकर सोये नहीं, गुरुके चरण चाँपने लगे। मिलान कीजिये—*'गुरुके प्रान अधार संग सेवकाई हैं। नीच ज्यों टहल करैं राखैं रुख अनुसरैं, कौसिक से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं॥'* (गी० १। ६९) ☞यहाँ भगवान् राजकुमार हैं, वे अपने आचरणद्वारा जनमात्रको शिक्षा दे रहे हैं कि चक्रवर्ती ही क्यों न हो उसे गुरुकी सेवा इसी प्रकार करनी चाहिये। यह दिखलानेहीके लिये सर्वेश्वर होते हुए भी वे सेवा कर रहे हैं। क्योंकि **'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥'** (गी० ३। २१) श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं। [मानसप्रेमी श्रोता और वक्ता इसपर विचार करें कि ऐसी दशामें परमार्थसाधक कितने श्रोता मन लगाकर मध्यरात्रितक श्रवण करते हैं। (प० प० प्र०)]

जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥ ४॥
ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥ ५॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥ ६॥

शब्दार्थ—**पलोटना**=दबाना। **प्रीते**=प्रीतिपूर्वक। **अग्या**=आज्ञा।

अर्थ—जिनके चरणकमलोंके लिये वैराग्यवान् लोग अनेक प्रकारके जप-योग (वा, जप और योग) करते हैं॥ ४॥ वे ही दोनों भाई मानो प्रेमसे जीते हुए (प्रेमाधीन होनेसे) प्रेमपूर्वक श्रीगुरुजीके चरणकमलोंको दबा रहे हैं॥ ५॥ मुनिने बारंबार आज्ञा दी तब श्रीरघुनाथजीने जाकर शयन किया॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'जिन्ह के चरन सरोरुह लागी……'* इति। [(क) चरणको सरोरुह कहकर वैरागियोंके मनको भ्रमर जनाया, यथा—*'करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं।'* (१। ३२४) (ख) *'करत बिबिध जप जोग'*—भाव कि जप-योगादि समस्त साधन भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही किये जाते हैं, यथा—*'करि ध्यान ग्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।'* (३। ३२) ये सब साधन हैं और श्रीरामचरणकी प्राप्ति फल है। उदाहरणार्थ भरद्वाजजीके वचन देखिये—*'आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥ सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू।'* (२। १०७) (ग) *'बिरागी'* जपयोग करते हैं, इस कथनका अभिप्राय यह है कि प्रथम वैराग्यका साधन करते हैं, जब साधन करके वैरागी हो जाते हैं तब भगवत्प्राप्तिके लिये जप-योगादि करते हैं। वैराग्यवान् होना भी भगवत्प्राप्तिका एक साधन है। जो विरक्त नहीं है उसे प्रभुके चरणोंकी प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं होती। (घ) यहाँ *'करत'* अर्थात् करना लिखते हैं, मिलना नहीं लिखते। [भाव यह है कि वैराग्यवान् होकर जपयोगादि करनेपर भगवत्प्राप्ति हो ही जाय यह आवश्यक नहीं है, साधन करनेपर भी किसीहीको मिलते हैं। आगे दिखाते हैं कि प्रेमसे तुरत ही वश हो दास ही बन जाते हैं। (प्र० सं०) जप और योग दोनों कहनेका भाव कि नामका जप करते हैं, उससे थके तब ध्यान करते हैं; ध्यानसे थककर फिर जप करते हैं। इस प्रकार साधन करते हैं! (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ *'ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते……'* इति। (क) तात्पर्य कि सब प्रकारके भजनसे प्रेमरूपी भजन अधिक है, यथा *'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।'* *'उमा जोग जप दान तप नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम।'* जप-योगादिसे प्रेमका महत्त्व विशेष है। जप-योगादिसे प्रभु मिलते हैं तो प्रेमसे सेवक हो जाते हैं। विश्वामित्रजीने श्रीरामजीमें प्रेम किया। [उनका प्रेम भगवान्‌के लिये याचक बनकर श्रीअवधपुरीको जाते समय, धनुर्भंगके समय और श्रीअयोध्याजीसे

विवाहके पश्चात् विदा होते समय कविने दिखाया है। यथा—'*एहू मिस देखौं पद जाई। करि बिनती आनौं दोउ भाई। ग्यान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना।*' (२०६। ७-८) '*कौसिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाहु सुहावन॥ रामरूप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी।*' (२६२। २-३) '*दीन्ह असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति रीति कहि जाती।*' (३६०। ९)] इसीसे श्रीरामजी विश्वामित्रजीके सेवक बने। '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' कहा ही है, उसीको यहाँ चरितार्थ किया। (ख) '*प्रेम जनु जीते*' से सूचित किया कि विश्वामित्रजीको भगवान् अन्य किसी साधनसे नहीं मिले वरंच उनका प्रेम ही भगवान्‌को जीतकर यहाँ ले आया। इसीसे वे चरण मींड़ रहे हैं। 'जीते' कहकर जनाते हैं कि और किसी साधनसे जीते नहीं जा सकते, प्रेमहीसे जीते जाते हैं। (यथा '*भगति अबसहि बस करी*') (ग) '*पलोटत प्रीते*' इति। प्रथम कहा कि ये जीतकर लाये गये हैं, इससे पाया जाता है कि मन लगाकर प्रेमसे सेवा न करते होंगे, उसीपर कहते हैं—'*पलोटत प्रीते।*' प्रेमसे जीते गये हैं, इसीसे प्रेमसे सेवा करते हैं, यहाँ भी '*ये यथा मां प्रपद्यन्ते*……' को चरितार्थ करते हैं। 'प्रीते' यहाँ कहकर आगे दोनों भाइयोंके प्रेमका स्वरूप दिखाते हैं कि '*बार बार*……।'

टिप्पणी—३ '*बार बार मुनि अज्ञा दीन्ही*……' इति। (क) इससे सेवामें अत्यन्त प्रेम दिखाते हैं कि मुनिके कहनेसे भी सेवा नहीं छोड़ते। बारंबार आज्ञा देनेपर तब शयन किया। एक-दो बारकी आज्ञापर सेवा छोड़ देनेसे अश्रद्धा पायी जाती। [यदि सेवक एक ही बारके कहनेसे सेवा छोड़ दे तो समझा जायगा कि उसकी हार्दिक इच्छा सेवा करनेकी न थी। और यदि स्वामी आज्ञा न दे तो उसमें कठोरता पायी जावे। अतएव दोनों विचारोंसे यहाँ 'बार-बार' और आगे '*पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता*' कहना पड़ा। (प्र० सं०)] बार-बार आज्ञा देनेसे सूचित हुआ कि जैसे श्रीरामजीकी प्रीति गुरुसेवामें है वैसे ही गुरुकी प्रीति श्रीरामजीमें है। [बार-बार आज्ञा मिलनेपर भी सेवा नहीं छोड़ी। कथाश्रवणमें ऐसी प्रीति कि अर्धरात्रितक प्रेमसे सुनते रहे और ऐसी गुरुभक्ति कि आज्ञा देनेपर भी सेवा नहीं छोड़ते। ऐसी सेवासे गुरुमहाराजको प्रसन्न कर लिया तभी तो '*सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे*' ऐसा आशीर्वाद मिला। इससे दिखाया कि जो कोई साधक इस प्रकार गुरुका अनुगामी बनकर कथा-श्रवण और सेवामें रत रहेगा वही भव-संसृति भंग करके शान्ति और भक्तिकी प्राप्ति कर सकेगा। प० प० प्र०]

(ख) '*रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही*' इति। यहाँ 'रघुबर' से 'श्रीरामजी' अभिप्रेत हैं; श्रीलक्ष्मणजी अभी शयन नहीं करेंगे, क्योंकि इनको अभी अपने स्वामी श्रीरामजीकी सेवा करनी है। सेवाके पीछे उनका शयन करना कहेंगे। '*जाइ*' से सूचित किया कि गुरुके शयन-स्थानसे श्रीरामजीका शयनागार पृथक् है। गुरुके सामने शयन करना निषिद्ध है, तब श्रीरामजी वहाँ शयन कैसे करते? शयनागार पृथक् है यह आगे स्पष्ट है, यथा—'*बिगत निसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे॥*……*बंधु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने। होइ सुचि सहज पुनीत नहाने॥ नित्य क्रिया करि गुरु पहिं आए।*' (२३८। ६-२३९) ['*रघुबर जाइ*' से जान पड़ता है कि सोनेकी आज्ञा लक्ष्मणजीको नहीं दी, क्योंकि ये श्रीरामजीके सेवक हैं। यथा—'*बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी।*' (१९८। ३) यदि मुनि उन्हें आज्ञा देते तो उनकी सेवा भंग हो जाती और यदि आज्ञा देनेपर सेवा करते, जाकर सोते नहीं, तो गुरुकी आज्ञा भंग होती। (प्र० सं०) इस तरह '*रघुबर*' देहली-दीपक है। अथवा, '*रघुबर*' से दोनों भाइयोंको जनाया। दोनोंको जानेकी आज्ञा दी, यदि लक्ष्मणजीको आज्ञा जानेकी न देते तो वे कैसे जाते। 'क्या आज्ञा दी?'—यह इसीसे स्पष्ट नहीं लिखा। प्रसंगके अनुसार लगा लेना चाहिये कि दोनोंको जानेकी आज्ञा दी और श्रीरामजीसे कहा कि जाओ अब शयन करो]।

चापत चरन लषनु उर लाएँ। सभय सप्रेम परम सचु पाएँ॥ ७॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता॥ ८॥

शब्दार्थ—लाएँ=लगाये हुए। सचु=सुख, आनन्द, यथा—*'हँसहिं संभुगन अति सचु पाएँ।'* (१३४। ५) *'भोजनु करहिं सुर अति बिलंबु बिनोद सुनि सचु पावहीं।'* (९९) जलजात=कमल।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीके चरणोंको हृदयमें लगाये हुए, डरते हुए, प्रेमसहित और परम आनन्द पाते हुए दबा रहे हैं॥ ७॥ प्रभु (श्रीरामजी) बार-बार कहते हैं—भैया! सो रहो। (तब वे) चरणकमलोंको हृदयमें रखकर पड़ रहे॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क)*'उर लाएँ'* इति। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामचरणानुरागी हैं, यथा—*'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारबिंदु अनुरागी।'* (७। १)*'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी।'* (१९८। ३) इसीसे चरणोंको हृदयमें लगाकर मीड़ रहे हैं। प्रिय वस्तुको लोग हृदयमें लगाते ही हैं उससे उनका प्रेम सूचित होता है। *'उर लाएँ'* से यहाँ चारों अन्त:करणका लगाना सूचित करते हैं। (ख) *'सभय सप्रेम'* इति। भयसहित दबाते हैं कि कहीं श्रीरामजीके चरणोंको दु:ख (कष्ट) न हो। (प्रभुके चरण अत्यन्त कोमल हैं, हमारे हाथ कठोर हैं, कहीं हमारे हाथ चरणोंमें गड़ें न—यह भय है) अथवा, प्रभुकी चरणसेवामें अत्यन्त प्रेम है, इसीसे डरते हैं कि कहीं प्रभु सोनेकी आज्ञा न दे दें जो चरणसेवा छूट जाय, क्योंकि रात बहुत बीत चुकी है। अथवा, [भय यह है कि नींद न उचट जाय, हमारे कड़े हाथोंसे कोमल चरणोंमें कसक (करक) न पहुँच जाय। (पाँ०) अथवा, सभय इससे कि डरते रहनेसे कार्य करनेमें चूक नहीं पड़ती। (वै०) अथवा, ऐश्वर्य समझकर भय है। (पं०)] 'सप्रेम' का भाव *'उर लाएँ'* में आ गया। अत्यन्त प्रेम है इसीसे हृदयमें लगाये हैं। चरणसेवा मिलनेसे सप्रेम। (रा० प्र०) वा, भ्रातृभावसे प्रेम है। (पं०) (ग) *'परम सचु पाएँ'* इति। परम आनन्द पा रहे हैं, क्योंकि जानते हैं कि इन चरणोंकी सेवा ब्रह्मादिको भी दुर्लभ है, यथा—*'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥'* (७। २२) (ये सब चरण-सेवा चाहते हैं पर इनको भी मिलती नहीं) सो हमको प्राप्त है। [☞सेवामें अपनेको अज्ञान मानना तथा दुर्लभ सेवाकी प्राप्तिमें अपनेको धन्य मानना उचित ही है। पुन:, *'परम सुख'* पाया क्योंकि आज सेवामें कोई साझी नहीं है, आज सेवाका लाभ पूरा-पूरा मिला। घरपर यह सेवा और लोग भी बटा लेते थे, यथा—*'सेवहिं सानुकूल सब भाई। रामचरन रति अति अधिकाई॥'* (७। २५। १) पर आज यह अधिकार अकेले ही अपनेको प्राप्त है। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—२ *'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।'''* इति। (क) जिस भावसे श्रीरामजीने मुनिकी सेवा की, उसी भावसे लक्ष्मणजी श्रीरामजीकी सेवा कर रहे हैं। मुनिने बार-बार आज्ञा दी तब श्रीरामजी सोये, वैसे ही जब श्रीरामजीने इनको बारम्बार आज्ञा दी, तब ये लेटे। [(ख) *'पौढ़े'* इति। *'मुनि'* और *'रघुबर'* के साथ *'सयन'* पद दिया।—*'मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई', 'रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही'* और लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें 'पौढ़े' लिखा। इससे ज्ञात होता है कि ये जागते लेटे रहे, सोये नहीं। श्रीलक्ष्मणजी रामसेवामें ऐसे तत्पर हैं, ऐसे सावधान हैं कि अवधसे बाहर श्रीरामजीके साथमें रहनेपर इनका सोना ग्रन्थकारने कहीं नहीं दिखाया। यथा—*'सयन कीन्ह रघुबंसमनि पाय पलोटत भाइ।'* (२। ८९) *'उठे लखनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी॥ कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥', 'प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥'* (६। ११। ८) बाबा हरिहरप्रसाद और पंजाबीजीका मत है कि 'पौढ़े' में शयनका भाव है।] *'पौढ़े'* पर विशेष अगले दोहेके टिप्पण देखिये। (ग) *'उर धरि पद जलजाता'* इति। 'उर धरि' का भाव कि पहले उरके ऊपर चरणका संयोग रहा, उरमें लगाकर चरण दाबते रहे—*'चापत चरन लखन उर लाएँ।'* जब ऊपर चरणका संयोग न रहा तब चरणोंको उरके भीतर धरकर लेटे। पंजाबीजी दूसरा अर्थ यह भी लिखते हैं कि 'हृदयपर चरणकमल रखकर सोये।')

इति श्रीनगरदर्शनप्रकरणं समाप्तम्

प्रीतम-प्यारी श्रीजनक-फुलवारी

अर्थात्

पुष्प-वाटिका-प्रकरण

नोट—१ इस प्रकरणमें शृङ्गाररसके रसज्ञ एवं अन्य कुछ महानुभावोंने बहुत भाव कहे हैं, जिनमेंसे कुछ असंगत और क्लिष्ट कल्पना प्रतीत होते हैं। परंतु रसिकसमाज और रामायणी लोगोंके प्रेमके कारण वे भाव भी दिये गये हैं।

दो-एक साहित्यज्ञ महात्माओंने प्रथम संस्करणका यह नोट पढ़कर मुझे लिखा था कि वे भाव अमर्यादित हैं, उनको इस ग्रन्थमें स्थान न देना चाहिये। परंतु 'मानस-पीयूष' तिलक रामचरितमानसका इनसाइक्लोपीडिया (Encyclopaedia of Shri Ram Charita Manas) है; इसलिये जो भाव अन्य टीकाकारों आदिने कहे हैं उनका भी संग्रह इसमें आवश्यक है। श्रीसीतारामीय व्रजेन्द्रप्रसाद, रिटायर्ड सब जज, बिहार (साकेतवासी) तथा श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी, सम्पादक 'कल्याण-कल्पतरु' की यह सम्मति थी। अतः इस संस्करणमें भी वे भाव ज्यों-के-त्यों दिये गये हैं।

नोट—२ पूर्व संस्करणमें हमने *'पुष्प-वाटिका-प्रकरण'* दोहा २२६ के आगेकी प्रथम चौपाईसे प्रारम्भ किया था। परंतु इस बार पुनर्विचार करनेपर हमने दोहा २२६ को भी 'वाटिका-प्रकरण' में लेना उचित समझा, क्योंकि यहाँसे ही उस दिनकी चर्य्याका प्रारम्भ होता है।

नोट—३ दोहेका प्रारम्भ करनेके पहले मैं श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजीके कुछ नोट्स यहाँ देता हूँ—उन्होंने फुलवारीलीलाकी साहित्यज्ञ शाब्दिक व्याख्या बहुत वर्ष हुए 'जमाना' (उर्दू एखबार, कानपुर) में की थी, जो फिर 'प्रभा' और 'तुलसी-ग्रन्थावली' में प्रकाशित हुई। उसके बादका कुछ अंश 'माधुरी' में छपा। वह पूरी शाब्दिक व्याख्या उन्होंने एक पुस्तक-रूपमें लिखी है, पर अप्रकाशित रह गयी। हम उसमेंसे यहाँ बहुत संक्षेपमें आलोचना-शैलीके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शनमात्र कराके कहीं-कहीं मुख्य शब्दोंकी व्याख्याका केवल संकेत देते जायँगे।

(१) "**साहित्यमें शाब्दिक व्याख्याके सिद्धान्त**"—रसकिनने ठीक कहा है कि कुशल कवि या लेखकके लेखोंको शब्दशः नहीं किंतु अक्षरशः विचारना चाहिये। इसी कसौटीपर रसकिन महोदयने मिल्टनके पाँच-सात पदोंकी व्याख्या करके यह दिखाया है कि प्रत्येक शब्द कितना विचारपूर्ण है। हम शब्द बदलना तो और बात है, बहुधा उसका स्थान भी नहीं बदल सकते।

गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानसपर भी यही बात लागू होती है।

जैसे अंकगणितमें किसी अंककी अपनी और स्थानीय कीमतें (मूल्य) होती हैं वैसे ही साहित्यमें शब्दकी अपनी स्थानीय कीमतें होती हैं। अंक १ अपनी जगह एक है, किंतु दहाईकी जगह दस हो जाता है, इत्यादि। हाँ! तो काव्य-कलामें शब्दकी कीमत किस प्रकार जाँची जाती है?

संक्षेपमें हमें तीन गुण देखने होते हैं—(क) 'शब्द (ध्वनि) गुण।' जैसा विषय वैसी ही 'ध्वनि' के शब्द। उदाहरण, जैसे भयानक—*'रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु गोहरावहिं॥'* माधुर्य और शृंगार—स, र, ल, म इत्यादि कोमल अक्षरोंकी बहुतायत सारे फुलवारी-लीलामें विचारणीय है। दूसरे, (ख) चित्रशक्ति—किसी विचारको मूर्तिमान् करना—Iconography, Ideography चुप चित्र, यथा—*'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहिं केहिं बाट॥'* फिल्म (प्रगतियोंवाले) चित्र-स्थूल; यथा—*'रुंड प्रचंड'* ' सूक्ष्म—*'माथे लषन कुटिल भइ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥'* तीसरे, (ग) भाव शक्ति—टैगोरजीने ठीक कहा है कि कवि वही है जो भावकेन्द्रपर पहुँच जाय और अपने अनुभवको शब्दोंमें प्रकट करे। इसके बिना तो कोई पद काव्य हो ही नहीं सकता। अलगसे उदाहरण क्या दें। सभी पद उदाहरण हैं।

(२) कलाकी दृष्टिसे फुलवारी-लीलामें निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

(क) शुद्ध शृङ्गारका विकास। शृङ्गार-रसमें कालिदास और सादी-जैसे कवियोंने भी मर्यादाका अवलङ्घन किया है। विश्वसाहित्यमें (एक) यही (पुष्पवाटिकाका) सीन है, जिसमें शृङ्गारमें मर्यादाका अवलङ्घन नहीं है और (फिर भी) रोचकता बनी हुई है। 'जाने आलम' और 'रोशनआरा' की मुलाकातके बाग़का सीन 'फिसाना अजायब' में और रोमियोजूलियटकी मुलाक़ातवाला सीन शैक्सपियरमें बड़े सुन्दर हैं; मगर इस सीनके साथ तुलनामें वे हमें मैरी कोरेलीके इस सिद्धान्तकी याद दिलाते हैं कि एक ओर भौतिक शृङ्गारका तूफान है तो दूसरी ओर चन्द्रछायाका किसी शान्त जलाशयमें आनन्द। मैं तो यह कहता हूँ कि *'अमिय हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार। जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार॥'* इस प्रसिद्ध पदमें जो शृङ्गारके तीन अंश हैं, उनमेंसे हलाहल (जहर इश्क़) यहाँ नहीं है। हाँ, अमिय और मधुभरेका आनन्द ही यहाँ है।

(ख) हाँ, ऐसे शृङ्गारके सूक्ष्म अङ्गोंका वर्णन है।

(ग) यहाँ नायिका-भेद नहीं है, मगर प्रगतियोंका निरीक्षण बड़ा मार्मिक है।

(घ) कला नाटकीय है, मगर रंग-मंचके संकुचित न होनेके कारण फिल्मकलासे टकराती है। याद रहे कि महाकाव्यकला संकेतरूपमें बराबर कायम है।

(ङ) तुलसीदासजीके कलाका, विशेषत: काव्यकलाका, पूर्ण विकास नाटकीय कलाके रूपमें यहाँसे अयोध्याकाण्डके अन्ततक है। यहाँसे विवाहतक सुखमय है। (मैं सुखान्तक नहीं कहना चाहता, क्योंकि हमारे यहाँ रसकी प्रधानतापर कलाका विभाजन है।) अयोध्यामें दु:खमय है (दु:खान्तक नहीं)।

(च) चरित्र संघर्ष और विकासका बहुत सुन्दर नमूना है।

चेतावनी—कुछ गुण पहले लिख चुके हैं जो यहाँ भी लागू हैं और कुछ जगह-जगहपर कम-से-कम संकेतरूपसे वर्णन किये जायँगे। इससे यह तालिका पूरी न समझनी चाहिये।

दो०—उठे लखन निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान॥ २२६॥

शब्दार्थ—**बिगत**=बीत जानेपर। **अरुनसिखा**=मुर्गा। इसीको आगे 'अरुणचूड़' कहा है। यथा—***'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुणचूड़ बर बोलन लागे॥'*** (३५८। ५)*

अर्थ—रात बीतनेपर मुर्गे (कुक्कुट) का शब्द कानोंसे सुनकर श्रीलक्ष्मणजी उठे। जगत्के स्वामी सुजान श्रीरामचन्द्रजी गुरुसे पहले ही जगे॥ २२६॥

नोट—१ इस दोहेसे राजकुमारोंकी दिनचर्याका वर्णन प्रारम्भ हुआ है।

टिप्पणी—१ (क) सेव्य-सेवक-भावसे सबका शयन करना और जागना लिखते हैं। प्रथम गुरुजीने शयन किया; यथा—*'मुनिबर सयन कीन्ह तब जाई।'* तब श्रीरामजीने शयन किया, यथा—*'बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥'* तत्पश्चात् श्रीलक्ष्मणजी लेटे; यथा—*'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता॥'* (२२६। ८) जिस प्रकार स्वामी और सेवकका शयन करना चाहिये

---

* कुछ टीकाकारोंने इसका अर्थ वेदध्वनि वा प्रातकालिक भजन भी किया है। मा० त० वि० कार 'मुर्गा' अर्थ देकर फिर लिखते हैं। यद्वा 'अरुण'—नि:शब्द, शिखाप्रधान। यथा—'अरुणेऽव्यक्तरागे स्यात्संध्यारागेऽर्कसारथौ। नि:शब्दे इति विश्व:॥', 'शिखाग्रमात्रे चूडायां केकिचूडाप्रधानयोरिति हेम:।' अरुणशिखा—नि:शब्द तत्त्वकी प्रधान ध्वनि जो ऋषियोंकी वेदध्वनि वा प्रात:कालिक भजन है। पं० रा० च० मिश्रजी दूसरा एक और अर्थ करते हैं। अरुणशिखा—लाल है चोटी जिसकी। और कहते हैं कि जिनका बिन्दु नीचे नहीं खसता ऐसे ब्रह्मचारियोंके सिरके बाल लाल पड़ जाते हैं, ऐसे वेदपाठी ऋषियोंकी वेदध्वनि।—ये सब अर्थ सम्भवत: इस शंकासे किये गये हैं कि किसी-किसीने मुर्गोंकी बोलीसे जागनेकी रीति तथा मुर्गोंका पाला जाना मुसलमानी शासनके समयसे मान लिया है जो अनुमान अयथार्थ और अप्रामाणिक है। नोट—२ देखिये॥

वैसा वर्णन करके अब दोहेमें जैसे उठना चाहिये वैसा कहते हैं। प्रथम सेवकको उठना चाहिये, वही यहाँ कहते हैं। प्रथम लक्ष्मणजी उठे। (ये सबसे पीछे लेटे थे और सबसे पहले उठे)

श्रीविश्वामित्रजी और श्रीरामजी क्रमसे सोये थे। पर उनके जागनेका क्रम उलटा है। पहले श्रीरामजी जगे, फिर विश्वामित्रजी; यह *'गुर तें पहिलेहि जागे'* से जना दिया। इसीमें दोनोंका जागना और जागनेका क्रम कह दिया। (विशेष मिश्रजीका टिप्पण देखिये।)

(ख) *'उठे लखन'* इति। जैसे लक्ष्मणजीके लिये 'पौढ़े' कहा था, वैसे ही यहाँ उनके लिये 'उठे' कहते हैं और जैसे मुनि और श्रीरामजीके लिये 'शयन' करना कहा था वैसे ही उनके लिये *'जागे'* कहा है। 'पौढ़ना' और 'उठना' कहकर जनाया कि श्रीलक्ष्मणजी सोये नहीं, बराबर जागते ही रहे। इसमें अभिप्राय यह है कि इस समय हमारे स्वामी श्रीरामजी शयन कर रहे हैं। कदाचित् गुरुको कोई काम पड़े तो वह गुरुसेवा मैं ही कर दूँ, श्रीरामजीको जागना न पड़े। यदि मैं भी सो गया तो गुरुसेवामें न पहुँच सकनेसे श्रीरामजीको गुरुसेवा-विक्षेपजनित दुःख होगा। ☞लक्ष्मणजी श्रीरामजीका दुःख किञ्चित् नहीं सह सकते। (प्र० सं०) इसीसे ग्रन्थकारने उनका शयन करना अथवा जागना नहीं लिखा किंतु 'पौढ़ना' और 'उठना' लिखा। (विशेष पूर्व लिखा गया है)

टिप्पणी—२ *'सुनि अरुनसिखा धुनि कान'* इति। मुर्गेकी बोली सुनकर जागना पुराणोंमें भी पाया जाता है।

नोट—२ अरुणचूड़ अण्डजयोनिवालोंमेंसे एक हैं। ये उस समय भी थे। रातमें इसकी बोली दूरतक सुनायी देती है। यह प्रातःकालमें ठीक समयपर ही नित्य बोलता है और किसी पक्षीका नित्य प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्तमें ठीक समयपर बोलना नहीं सुना जाता। अतः इसीका बोलना कहा गया। राजाओंके यहाँ विविध प्रकारके पक्षियोंके पालनेकी प्रथा सदासे चली आयी है। राजाओंके कौतुकके लिये तो ये होते ही हैं, पर साथ ही बहुतेरे पक्षी बड़े कामके होते हैं। कबूतर दूतों और हरकारोंके काममें भी आते हुए देखे और सुने गये हैं। वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि चकोर, कबूतर और अरुणचूड़ोंद्वारा ही भोजनमें विषकी उत्तम रूपसे सफल परीक्षा होती है। विष्णुगुप्त चाणक्यने अपने 'कौटिलीय' अर्थशास्त्रमें 'विनपाधिकारिक' के अ० २१ में आत्मरक्षाप्रकरणमें राजाओंके लिये नियम लिखा है कि अग्नि और पक्षियोंद्वारा भोजनकी नित्य परीक्षा करके तब राजा कोई चीज खाय। यथा—'**तद्राजा तथैवं प्रति भुञ्जीत पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा।**'(१। २१। १८। ९) मनुने भी राजाके लिये लिखा है—'**तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः। सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः॥**'(मनु० ७। २१७) अर्थात् वहाँ (अन्तःपुरमें) राजा भोजनकालाभिज्ञ, दूसरोंद्वारा अभेद्य, परम आत्मीय जनद्वारा प्रस्तुत, परीक्षित एवं विषनाशक वेदमन्त्रोंद्वारा विशोधित अन्न व्यञ्जनादि उत्तम भोजन करे।

नोट—३ पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि 'अरुणशिखा' पदसे नगरका वास जनाया। जबसे अयोध्या छूटी तबसे आज मुर्गेका शब्द सुननेको मिला। दूसरे यह ग्राम्यपक्षी है, नियमित समय बोलनेसे ग्रामशोभा जनायी।' (प्र० सं०)

टिप्पणी—३ *'गुर तें पहिलेहि जगतपति जागे'*' इति। (क) पूर्वार्धमें लक्ष्मणजीका उठना कहकर क्रमसे ही जना दिया कि ये श्रीरामजीसे पहले उठे। जैसे ये श्रीरामजीसे पहले उठे वैसे ही श्रीरामजी गुरुसे पहले। क्योंकि सेवकका यह धर्म है कि स्वामीसे पहले जागे। (ख) *'जगतपति जागे'* इति। 'जागने' के सम्बन्धसे 'जगतपति' कहा। भाव कि ईश्वरके जागनेसे जगत्‌की 'पति' अर्थात् रक्षा होती है। ईश्वरके जागनेमें सब जगह 'जगतपति' विशेषण देते हैं। यथा—*'जानेउ सती जगतपति जागे।'* बालकाण्ड दोहा ६० (३) देखिये। (ग) *'रामु सुजान'* का भाव कि श्रीरामजी धर्ममें बड़े सुजान हैं, इसीसे गुरुसे पहले जागे। श्रीलक्ष्मणजीने अरुणशिखाध्वनि सुनकर जाना कि रात बीत गयी, प्रातःकाल हो गया और श्रीरामजी स्वतः जानते हैं, किसी अवलम्बसे नहीं। यथा *'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे।'* (३५८। ५) श्रीरामजी प्रथम जगे, पीछे अरुणचूड़ बोलने लगे। इसीसे 'सुजान' विशेषण दिया।

पं० रा० च० मिश्र—'जगतपति' अर्थात् ये जगन्मात्रके स्वामी हैं और समस्त संसार ही इनका सेवक है, यह विशेषण देकर भी 'सुजान' विशेषण देते हैं, क्योंकि ***'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'*** (२। २५४। ५) श्रीरामजी यद्यपि जगत्पति हैं, फिर भी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। उनका अवतार केवल राक्षसोंके वधके लिये नहीं हुआ (राक्षसोंका वध तो थोड़े ही वर्षों बाद हो गया था, पर वे पृथ्वीपर कम-से-कम उसके बाद ग्यारह हजार वर्षतक राज्य करते रहे), किंतु संसारको अपने आचरणद्वारा धर्मकी मर्यादाकी शिक्षा देनेके लिये हुआ; यथा—'**मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।**'(भा० ५। १९। ५) जो गुरुसेवाकी मर्यादा है, यथा—'**हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥**' (इति मनुः) अर्थात् (गुरुके समीप साधारण भोजन, वस्त्र, वेष-भूषासे रहे) गुरुसे पहले सोकर उठे और गुरुके सो जानेपर सोये, वही श्रीरामजीमें चरितार्थ है, घटित है। अतः ***'जगतपति सुजान'*** विशेषण दिये गये।

नोट—४ पुनः 'जगत्पति' का भाव कि इनका सोना और जागना क्या? ये तो जगत्-मात्रके स्वामी हैं, सोना और जागना यह तो नरनाट्यमात्र है। सेवामें कैसे सावधान हैं, यह गीतावली १। ६९ में खूब दरसाया है। यथा—***'गुरु के प्रान अधार संग सेवकाई हैं। नीच ज्यों टहल करैं राखें रुख अनुसरैं, कौसिक से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं।'*** ऐसे सावधान होनेसे जगत्पति और सुजान कहे गये। (प्र० सं०)

नोट—५ दिनचर्या प्रातरुत्थानसे चली। उठनेके बादकी दिनचर्या ***'सकल सौच करि जाइ नहाए।'''*** से ***'करि मुनि चरन सरोज प्रनामा। आयेसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥'*** (२३८। ५) तक है।

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥ १॥
समय जानि गुर आयेसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥ २॥

शब्दार्थ—**सौच**=वह कृत्य जो प्रातःकाल उठकर सबसे पहले किये जाते हैं। जैसे, पाखाने जाना (मल-मूत्र त्याग करना), मुँह-हाथ-पैर धोना, दन्तधावन। हिन्दूशास्त्रानुसार अशौचावस्थामें संध्या-तर्पण आदि बैदिक कर्म नहीं किये जाते। पुनः, शौच=पवित्रता। शौच दो प्रकारका होता है, एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर। (बाह्य शौच मिट्टी और जलादिसे होता है। आभ्यन्तर शौच ध्यान, धारणा-भगवत्-स्मरण आदिसे होता है।) ***'सकल सौच'***—टिप्पणी १ देखिये। **नित्य**=वे धर्मसम्बन्धी कर्म जिनका प्रतिदिन करना आवश्यक ठहराया गया हो। =नित्यक्रिया। जैसे—संध्या-वन्दन, अग्निहोत्र, पूजा-पाठ इत्यादि। निबाहना=पूरा करना, पालन करना। **नित्य निबाहि**=नित्य कर्म करके। **प्रसून**=फूल।

अर्थ—सब शौच-क्रिया करके जाकर स्नान किया और नित्यकर्म पूरा करके मुनिको प्रणाम किया॥ १॥ समय जान गुरुकी आज्ञा पाकर दोनों भाई फूल लेने चले॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) ***'सकल सौच'*** इति। मनुष्यके शरीरमें बारह मल होते हैं; यथा—'**वसाशुक्र-मसृङ्मज्जामूत्रविड्घ्राणकर्णविट्। श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥**' अर्थात् चर्बी, वीर्य, असृक् (रक्त), हड्डीके भीतरका गूदा, मूत्र, विष्ठा, नाकका मल, कानका खूँट, कफ, आँसू, आँखका कीचड़, पसीना ये बारह मल हैं। इसीसे ***'सकल सौच'*** कहा। [एक महानुभावने प्र० सं० के शब्दार्थमें 'मल-मूत्र-त्याग' को अर्थमें देखकर यह मत प्रकट किया है कि श्रीरामजीके विषयमें ग्राम्यधर्म नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उनका शरीर चिदानन्दमय है; यथा—***'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'*** (२। १२७) पर मेरी समझमें अवतार लेकर नर-नाट्यमें सभी कर्म किये जायँगे। यदि मल-मूत्र-त्याग आदिका नरनाट्य न होता तो कौसल्यादि माताओंको कितनी चिन्ता हो जाती, जब कि वे श्रीरामललाजीके 'अनरसे होने, दूध न पीने', उनको नजर लग जानेपर बेचैन (विकल) हो जाती थीं, तब भला मल-मूत्र-त्याग न देखकर वे चुप बैठी रह जातीं? बैजनाथजीने भी ***'सकल सौच'*** में दिशा-मैदान आदिको लिखा है। ***'सकल सौच'*** में ये सब हैं, रह गया भावनाके अनुसार उपासक जैसा चाहें मान सकते हैं। चिदानन्द शरीरमें पसीना, श्रमबिन्दु,